वर्ष - 1, अंक - 1, उज्जैन, माह - मार्च 2013, वार्षिक 80/- रु., प्रति अंक 40/- रु.

विक्रमार्क

THE VIKRAMĀRKA

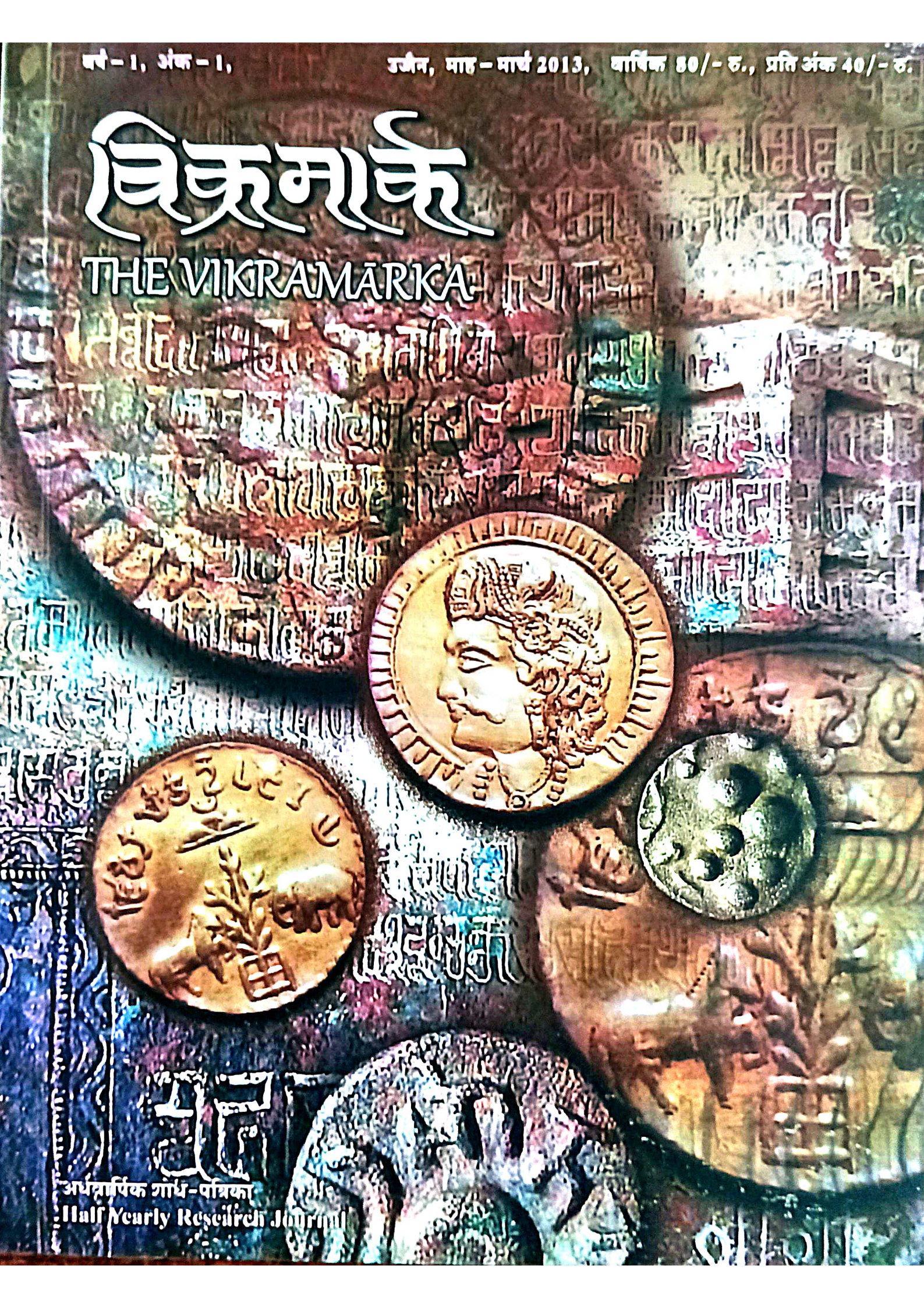

अर्धवार्षिक शोध-पत्रिका
Half Yearly Research Journal

मकर शिखर
बेस नगर (विदिशा) ईसा पूर्व प्रथम शती

बेस नगर (विदिशा) ईसा पूर्व प्रथम शती

खण्डित स्तम्भ शिखर
बेस नगर (विदिशा) ईसा पूर्व प्रथम शती

खण्डित स्तम्भ शिखर
बेस नगर (विदिशा) ईसा पूर्व प्रथम शती

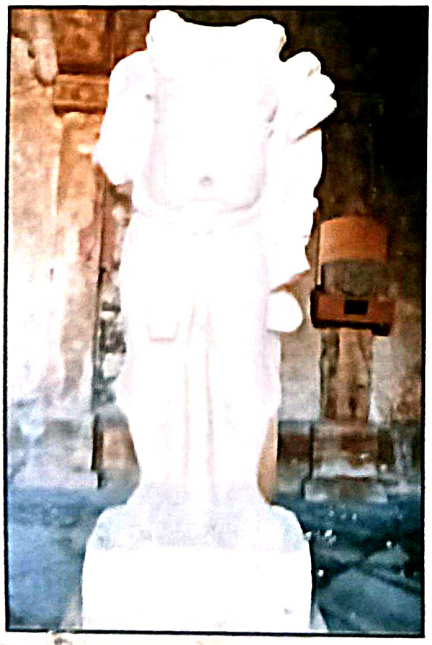

एकड़ शिखर
बेस नगर (विदिशा) ईसा पूर्व प्रथम शती

मणिभद्र यक्ष
बेस नगर (विदिशा) ईसा पूर्व प्रथम शती

विक्रमार्क

THE VIKRAMĀRKA

ग्रन्थ - 1
Vol - 1

अर्धवार्षिक शोध-पत्रिका
Half Yearly Research Journal

मार्च-अगस्त, 2013

वसन्त 2070

प्रधान सम्पादक
श्रीराम तिवारी

सम्पादक
डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

समन्वयक
प्रदीप अग्रवाल

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय, मध्यप्रदेश
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

Maharaja Vikramaditya Shodh Peeth
Swaraj Sansthan Sanchalanalay
1, Udayan Marg, Ujjain - 456 010 MP
Telefax : 0734-2521499
Email: vikramadityashodhpeeth@gamil.com

विक्रमार्क
THE VIKRAMĀRKA

अर्धवार्षिक शोध-पत्रिका
Half Yearly Research Journal

संवत् : 2070 वसन्त
सन् : 2013, मार्च – अगस्त

मूल्य: एक अङ्क 40/- रु.
वार्षिक 80 रु.

आवरण: अक्षय आमेरिया, उज्जैन

प्रबन्धन: अवधेश श्रीवास्तव, सहायक निदेशक

मुद्रण:
पञ्चायतीराज मुद्रणालय
1, औद्योगिक क्षेत्र, नागझिरी
देवास रोड, उज्जैन

प्रकाशक:
महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय
1, उदयन मार्ग, उज्जैन - 456010

दूरभाष: 0734- 2521499
Fax: 0734-2521499
Email: vikramadityashodhpeeth@gamil.com

कार्यालय सहयोग -
श्री रमेश शुक्ल, श्री रीतेश वर्मा,श्री संजय मालवीय

प्रकाशित सामग्री के विचारों से शोधपीठ का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पूर्वरंग

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ की अर्धवार्षिक शोधपत्रिका विक्रमार्क का आरम्भ अङ्क नान्दी के समान पिछले वर्ष प्रकाशित किया गया था जिसे विद्वानों ने पर्याप्त पसन्द किया। अब इस शोध पत्रिका का यह विक्रमार्क नाम पञ्जीयन समाचार-पत्र, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित हो गया है। अतः अनुमोदन के पश्चात् नियमानुसार विक्रमार्क शोध पत्रिका का यह प्रथम अङ्क प्रकाशित हो रहा है। डॉ. आर.सी. ठाकुर (अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर) से प्राप्त विक्रमादित्य, भोज के नवीन सिक्कों के साथ ही परमार राजा नरवर्मा का संवत् 1182 (1125 ई.) का एक नवीन ताम्रपत्र भी विक्रमार्क के इस अङ्क में प्रकाशित किया जा रहा है। इस सामग्री के लिए हम उनके आभारी हैं। इनके साथ ही रुनीजा से प्राप्त गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्के भी प्रकाशित किये जा रहे हैं। इनके चित्रों के लिए म.प्र. पुरातत्त्व विभाग के उपसञ्चालक डॉ. प्रकाशचन्द्र माथुर के आभारी हैं। डॉ. आर.सी. ठाकुर को तथा विक्रमादित्य सम्बन्धी (दिसम्बर 2012) गोष्ठी में विद्वानों को विक्रमादित्य का स्वर्ण सिक्का प्रथम बार दिखाई दिया जिस पर राजा की मुखाकृति भी बनी हुई है और उस पर ''राजा विक्रमादित्य उजेनिय'' ब्राह्मीलिपि में स्पष्ट और सुन्दर अक्षरों में अङ्कित है।

विक्रम की एक और अश्वाङ्कित ताम्रमुद्रा पिछले दिनों प्राप्त हुई है। अन्वेषण की अनवरत धारा से यह भी प्रकट होता है कि शक एक जाति का नाम तो था, परन्तु संवत् शब्द का पर्याय भी शक रहा। ज्योतिर्विदाभरण के अनुसार युधिष्ठिर, विक्रमादित्य, शालिवाहन आदि शक अर्थात् संवत् के प्रवर्त्तक थे। जायसी ने कहा- विक्रम साका कीन्ह।

विक्रमादित्य और कृत के संयुक्त और अलग-अलग सिक्के और सीलें प्राप्त हो चुकी हैं, जिनमें से अनेक पर उजेनिय, उजेनि, उजेनियि, उजयि, उजनियि नाम भी हैं। इससे स्पष्ट है कि कृत और विक्रमादित्य या विक्रम एक ही राजा के दो नाम हैं और इनकी राजधानी उज्जयिनी थी। मन्दसौर के पास के अँवलेश्वर से शिलालेख भी मिले हैं, जिन पर विक्रमादित्य के समय जलाशय बनवाने का उल्लेख है। वहाँ पर तत्कालीन एक तालाब और वापी भी है।अश्विनी शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ. आर.सी. ठाकुर द्वारा सुलभ करवायी गयी सीलों, सिक्कों आदि के सतत अध्ययन-अन्वेषण के दौरान कई ज्ञात-अज्ञात भारतीय तथा विदेशी शासकों के सील-सिक्के भी प्राप्त होते जा रहे हैं, जिन्हें पृथक् से पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। कृत नाम उन दिनों रखे जाते थे। कथासरित्सागर (3/19) के अनुसार कृत नामक राजा था और बृहत्कथामञ्जरी के अनुसार अयोध्या के एक राजा का नाम कृतवर्मा था। उज्जैन और महिदपुर की शिप्रा नदी से उज्जैन की टकसाल के प्रमाण स्वरूप सिक्कों के पाँच सौ से अधिक साँचे प्राप्त हुए हैं, उनमें एक राजा विक्रम के सिक्के का भी हैं। सिक्कों के एकत्र इतने अधिक साँचे अन्यत्र कहीं से भी नहीं मिले हैं। इतनी विपुल मात्रा में प्राप्त साँचों से यह भी प्रतीत होता है कि प्रथम शताब्दी के आसपास उज्जैन में टकसाल थी जहाँ प्रचुर मात्रा में सदियों तक विभिन्न प्रकार के सिक्के तैयार किये जाते थे।

ग्वालियर संग्रहालय में विद्यमान विक्रमादित्ययुगीन अवशेषों पर डॉ. नरेश कुमार पाठक का लेख है। सुप्रसिद्ध मालवी लोकवेत्ता डॉ. पूरन सहगल ने मालवी लोकभाषा में विक्रमादित्य सम्बन्धी दुर्लभ लोकगाथा सङ्कलित की है जिसे यहाँ प्रथम बार प्रकाशित किया जा रहा है। विशेष महत्त्वपूर्ण है डॉ. सीताराम दुबे का लेख और डॉ. सुस्मिता पांडे की पुस्तक समीक्षा, जिनके द्वारा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा अश्विनी शोध संस्थान के सहयोग से किये गये अन्वेषण के आधार पर संवत् प्रवर्त्तक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की पुष्टि की गयी है। आचार्य श्रीनिवास रथ का लेख अपनी प्रस्तुति में विशेष है। इनके अतिरिक्त भी विभिन्न महत्त्वपूर्ण लेखों को इस अङ्क में प्रकाशित किया जा रहा है। लेखकीय सहयोग के लिए समस्त सुधी लेखकों का हार्दिक आभार। पत्रिका के प्रबन्धन में श्री राजेन्द्र पुरोहित तथा श्री उमेश जोशी के सतत सहयोग के लिये आभार। आशा है यह अङ्क विद्वानों को पूर्व अङ्क के समान पसन्द आएगा।

- भगवतीलाल राजपुरोहित

अनुक्रम

1.	विक्रमादित्य एवं उसकी ऐतिहासिकता	डॉ. सीताराम दुबे	5
2.	विक्रमादित्य के मुद्रा साक्ष्य	डॉ. जगन्नाथ दुबे/डॉ.आर.सी. ठाकुर	9
3.	अलबरुनी का वृत्तान्त एवं विक्रमादित्य संदर्भ	डॉ. एस.एल.वरे	14
4.	विक्रमादित्य एवं समकालीन राजवंश व कला	डॉ. रमेशचन्द्र यादव	17
5.	ग्वालियर में विक्रमादित्यकालीन प्रतिमाएँ	नरेशकुमार पाठक	21
6.	सम्राट् विक्रमादित्य एवं गढ़वाल हिमालय	डॉ. अजय परमार	26
7.	जैन आगम में विक्रमादित्य : एक समीक्षात्मक विमर्श	डॉ. विनयकुमार राय	31
8.	विक्रमादित्य और कालकाचार्य कथानक	डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन	35
9.	कथा-गाथा के दिव्य पुरुष : विक्रमादित्य	डॉ. पूरन सहगल	40
10.	महाराजा विक्रमादित्य और लोक स्वीकृति	जीवनसिंह ठाकुर	46
11.	रुनीजा मुद्रानिधि से प्राप्त गुप्त सम्राटों की स्वर्णमुद्राएँ	डॉ. जगन्नाथ दुबे	50
12.	परमार वंश के शासक भोजदेव की मुद्राएँ	डॉ. जगन्नाथ दुबे	54
13.	नरवर्मदेव का ताम्रपत्र	डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित	58
14.	वैश्या टेकरी वैदिशा-गिरि	श्रीनिवास रथ	61
15.	श्री धन्वन्तरिर्विजयते	डॉ. गिरीशकुमार जोशी	65
16.	वैद्यनाथ महादेव मन्दिर-धन्वन्तरि की कार्यशाला	डॉ. किरण रमण	68
17.	पुस्तक समीक्षा	डॉ. सुस्मिता पांडे	70

विक्रमादित्य एवं उसकी ऐतिहासिकता

डॉ. सीताराम दुबे

अध्यात्म-प्रवण, नैतिकता प्रधान, कर्मनिष्ठ भारतीय समाज में यदि देवताओं के अतिरिक्त किसी ऐतिहासिक शासक विशेष के साथ सर्वाधिक किंवदंतियाँ जुड़ी हैं तो वे हैं सम्राट् विक्रमादित्य। प्रजारञ्जन में विश्वास करने वाले इस शासक ने विषम परिस्थितियों में अपने शौर्य एवं पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए न केवल अपने पिता द्वारा खोये हुए राज्य को प्राप्त कर लिया, वरन् शकों को भारतभूमि से बाहर भगा 'शकारि' उपाधि धारण की। इस महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के उपलक्ष्य में 57 ई.पू. में एक महत्त्वपूर्ण संवत् की स्थापना की और 60 वर्षों तक प्रभुतापूर्ण निष्कण्टक राज्य किया। शिक्षा और कला के उन्नायक इस शासक के राजदरबार में विद्वानों का अतिशय सम्मान था। इनमें धन्वन्तरि, अमरसिंह, क्षपणक, शङ्कु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर तथा वररुचि की नवरत्न के रूप में मान्यता है। मानवीय प्रतिभा का धनी एवं राजनीतिक चातुर्य का प्रतिमान, भारतीय संस्कृति एवं राजनीतिक वैशिष्ट्य का प्रतीक पुरुष और 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति को चरितार्थ करने वाला यह भारतीय शासकों एवं उनके आश्रय-प्राप्त कवियों के लिये आकर्षण का केन्द्र बन गया। समय के साथ कालान्तर में यह विक्रमादित्य नाम अनेक शासकों की उपाधि बन गया। गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय, पुरुगुप्त आदि तथा कलचुरि शासक गाङ्गेयदेव इस उपाधि का प्रचुरता से उपयोग करते दिखाई देते हैं। चालुक्य शासकों में तो प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ के रूप में विक्रमादित्य नामधारी शासकों की एक शृङ्खला-सी लक्षित होती है।

इस प्रकार क्रमशः एक क्षेत्र विशेष उज्जयिनी का यह शासक समग्र भारतभूमि का लोकप्रिय आदर्श बन गया। इसके द्वारा प्रवर्तित संवत् कृत, मालव, मालवेश से होते हुए 'विक्रम' नामाभिधान प्राप्त कर भारत का राष्ट्रीय संवत् बन गया और भारतीय ज्योतिष-गणना के मूलाधार के रूप में उसकी प्रतिष्ठा हुई। विक्रमादित्य नाम के साथ अनेक लोक-प्रचलित कथानक एवं किंवदंतियाँ सम्पृक्त होती गईं।

बारहवीं-तेरहवीं शती तक विक्रमादित्य नाम प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में लिखे साहित्य का प्रिय विषय बन गया। अनेक लोकाख्यान एवं किंवदंतीपरक कथानक प्रचलित होने लगे। विक्रमादित्य के महिमामण्डन से सम्बन्धित आख्यानोपाख्यानों की बढ़ोत्तरी होने लगी। इन सबके परिणामस्वरूप विक्रमादित्य विषयक आदर्श से सम्बद्ध कल्पना एवं यथार्थ में अन्तर करना कठिन होता गया। साहित्यिक एवं मौखिक परम्परा से ज्ञात तथ्यों की पुरातात्त्विक साक्ष्यों से अपुष्टि के कारण उपलब्ध विवरण अधिकाधिक भ्रामक होता गया और इन सबके चलते विक्रमादित्य समीकरण का प्रश्न जटिल से जटिलतर होता गया। इस जटिलता का

दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण मौखिक परम्परा एवं साहित्यिक साक्ष्यों से उपलब्ध विवरणों में एकरूपता का न होना भी है।

आज से लगभग 70 वर्ष पूर्व विक्रम संवत् के 2000 वें वर्ष, अर्थात् 1943 ई. सन् में वाराणसी में आयोजित अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् अर्थात् ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स के 13वें अधिवेशन में तो विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता ही संगोष्ठी की विचारणा की महत्त्वपूर्ण बिन्दु थी। लगभग इसी वर्ष विक्रम संवत् के 2000वें वर्ष के समापन के उपलक्ष्य में ग्वालियर राज्य के तत्त्वावधान में विक्रम स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का भी निर्णय लिया गया और लगभग एक दशक के अन्तराल में वह हिन्दी, अँग्रेज़ी और मराठी में छपा भी। ये दोनों ही प्रयत्न विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के निर्धारण के महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक चरण कहे जा सकते हैं।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर समय-समय पर अनेक इतिहासविदों ने विक्रमादित्य के अभिज्ञान का प्रयत्न किया। किसी ने इसे उज्जयिनी के गर्दभिल्ल के पुत्र के रूप में समीकृत किया तो किसी ने सातवाहन शासक गौतमीपुत्र सातकर्णि से तो कुछ ने गुप्त शासक समुद्रगुप्त अथवा विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय से। कुछ अन्य सन्दर्भों के आधार पर इसे मन्दसौर शासक यशोधर्मन से समीकृत करने का प्रयास भी मिलता है।

इनमें दो समीकरण विशेष महत्त्व के कहे जा सकते हैं - प्रथम उज्जयिनी सम्राट्, संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य तथा दूसरा गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय से। प्रथम के प्रतिपादक राजबली पाण्डेय तथा दूसरे के दिनेशचन्द्र सरकार हैं। इन दोनों ने क्रमशः विक्रमादित्य (संवत् प्रवर्त्तक, 1960) तथा ऐंश्येण्ट मालवा एण्ड द विक्रमादित्य टेडीशन (1969) जैसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित कराये। यदि इन दोनों में से किसी एक के पक्ष में निर्णय देना हो तो उज्जयिनी शासक गर्दभिल्ल-पुत्र विक्रमादित्य समीकरण हेतु निर्धारित प्रायः सभी कसौटियों पर खरा उतरता है। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने इसके अस्तित्व पर ही सन्देह व्यक्त किया है और सर्वथा काल्पनिक करार दिया है। ऐसा साहित्य-वर्णित विक्रमादित्य के अतिमानवीय चमत्कारिक शक्ति और रूप के कारण प्रतीत होता है।

विक्रमादित्य विषयक साहित्यिक परम्परा में भी ब्राह्मण एवं जैन परम्परा में मतभेद है। ब्राह्मण परम्परा विक्रमादित्य को शिव कृपा से शिवगण माल्यवान के महेन्द्रादित्य और सौम्यदर्शना के पुत्र के रूप में उत्पत्ति की बात करती है, जबकि जैन परम्परा कालकाचार्य कथानक विक्रमादित्य का गर्दभिल्ल के पुत्र के रूप में वर्णन करती है और स्कन्द एवं भविष्य जैसे परवर्त्ती पुराणों से भी इस प्रकार के अभिमत को समर्थन मिलता है। इस प्रकार के किञ्चित् भेद होते हुए भी इन दोनों परम्पराओं के विवरण प्रायः इस बात पर एकमत हैं कि उज्जयिनी के गर्दभिल्ल के पुत्र उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य ने शकों को भारतभूमि से बाहर भगा राज्य और राष्ट्र की रक्षा का जो आदर्श रखा था, समय-समय पर हुए विदेशी आक्रमण के समय के शासकों से उसके पालन की अपेक्षा की जाने लगी और चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, गाङ्गेयदेव आदि शासक इस प्रकार की अपेक्षाओं पर खरे भी उतरे तथा अनेक प्रभावी राजनीतिक उपलब्धियाँ भी अर्जित कीं। मुसलमानों के आतङ्कपूर्ण आक्रमण के समय पुनः इसी प्रकार के आदर्श की अपेक्षा की गई और महिमामण्डित रूप में 'विक्रमादित्य' के आदर्श पालन की प्रतिष्ठा का प्रयत्न हुआ, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव के कारण

विभिन्न शासकों की उपलब्धियों और उनके राजकीय आदर्शों के समवेत के रूप में अतिमानवीय 'विक्रमादित्य' की विकसित अवधारणा के कारण विक्रमादित्य नामधारी एवं उपाधिधारी शासकों में अन्तर कर पाना कठिन हो गया। किंवदन्तियों एवं विविध लोक प्रचलित मान्यताओं के चकाचौंध में उज्जयिनी शासक विक्रमादित्य का मूल रूप ही प्रच्छन्न हो गया। यही बात नवरत्नों के सन्दर्भ में भी दिखाई देती है, जिनमें वराहमिहिर को तो स्पष्ट ही विक्रमादित्यकालीन मानने में कठिनाई लक्षित होती है, किन्तु इन विविध रूपों के ऐतिहासिक विकास क्रम को ध्यान में रखने पर अनेक कठिनाइयों का सहज ही समाधान हो सकता है। कृत से विक्रम संवत् में परिवर्तन भी इसी स्थितिजन्य ऐतिहासिक विकास का परिणाम है।

शुकसप्तति में विक्रमादित्य को उज्जयिनी का राजा कहा गया है। विक्रमादित्य विषयक साहित्यिक सोतों में गुणाढ्य की 'बड्ढकथा' तथा हाल की गाहासतसई को प्राचीनतम माना जा सकता है। बड्ढकथा को 8-9वीं शती के बुधस्वामी के बृहत्कथा श्लोकसङ्ग्रह तथा 11वीं शती के क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव के कथासरित्सागर का उपजीव्य काव्य कहा जा सकता है। बड्ढकथा को विक्रमादित्य के प्राय: सम-सामयिक होने के कारण विक्रमादित्य विषयक विवरण के लिए सर्वथा विश्वसनीय माना जा सकता है। यद्यपि आज वह अनुपलब्ध है और बृहत्कथामञ्जरी तथा कथा सरित्सागर से ही उसके बारे में जानकारी मिलती है।

इधर एक-दो दशकों में विक्रमादित्य विषयक अनेक पुरातात्त्विक साक्ष्य भी उपलब्ध हुए हैं। उज्जैन में महाराजा विक्रम शोधपीठ की स्थापना से विक्रमादित्य विषयक पुरातात्त्विक साक्ष्यों की खोज में व्यापक प्रगति हुई है। विष्णु श्रीधर वाकणकर महोदय को 'कतस उजनीयस' लेख वाला मुद्राङ्क तो बहुत पहले ही प्राप्त हो चुका था। इधर मन्दसौर से पश्चिम प्रतापगढ़ मार्ग पर स्थित अँवलेश्वर के प्रथम शती ई.पू. की ब्राह्मीलिपि में लिखे हुए एक शिलालेख में विक्रमादित्य द्वारा एक तालाब बनवाये जाने का उल्लेख मिला है। वाकणकर शोध संस्थान में एक ऐसा मृण्मुद्राङ्क सुरक्षित है, जिसमें अण्डाकार घेरे के मध्य प्रथम शती ई.पू. की ब्राह्मीलिपि में 'कुतस ' का अङ्कन है। हाथी दाँत की एक मुद्रा पर भी इसी समय की ब्राह्मीलिपि में 'कतस' लिखा मिला है। इस कुतस को षष्ठी विभक्तियुक्त कृतस्य अर्थात् कृत संवत् का समरूप माना जा सकता है। लेख के नीचे नदी में तैरती 3 मछलियों का अङ्कन है। इस अङ्कित नदी को शिप्रा नदी से अभिहित किया जा सकता है। एक अन्य मृण्मुद्राङ्क पर (रा) जा विक्रमस लिखा है। मिट्टी के ही एक अन्य मुद्राङ्क पर ऊपर उज्जयिनी प्रतीक तथा नीचे प्रथम शती ई.पू. की ब्राह्मीलिपि में 'श्रीविक्रम' का अङ्कन है।

इधर पाँच-छह वर्षों से महाकाल प्रकार की उपलब्ध कुछ ताम्र मुद्राओं पर प्रथम शती ई.पू. की ब्राह्मीलिपि में 'राजा विक्रमस ' अथवा 'विक्रमस' का अङ्कन मिलता है। इन मुद्राओं के पुरोभाग पर जहाँ जटाजूटयुक्त सूर्यध्वजधारी शिव और उनकी दाँयीं भुजा के पास 'विक्रम' का अङ्कन है, वहीं पृष्ठभाग पर उज्जैन का प्रतीक बना है।

विक्रमादित्य विषयक उक्त प्रकार के अभिलेख, मुद्रा और सिक्कों से तो प्रथम शती ई. में उज्जयिनी के शासक के रूप में विक्रमादित्य का होना समर्थित है ही, विक्रमादित्य के सभासद के रूप में उल्लिखित मूलदेव पर भी मृद्भाण्डों तथा मुहर-मुद्राङ्कों एवं सिक्कों से प्रकाश पड़ता है।

महेश्वर के समीप स्थित कसरावद के 1936-38 के मध्य सम्पन्न पुरातात्त्विक उत्खनन से उपलब्ध

मृद्भाण्ड खण्डों में से कुछ पर प्रथम शती ई.पू. की ब्राह्मीलिपि में 'मूलदेव' अङ्कित मिलता है। इसी प्रकार इस मूलदेव की उज्जयिनी की गणिका प्रेमिका विपुला के नाम का साँची के स्तूप की वेष्टिनी पर अङ्कन है। कदाचित् इसने साँची के स्तूप की इस वेष्टिनी को निर्मित कराकर दान दिया था।

इस प्रकार विक्रमादित्य एवं उसके मित्रों-सभासदों से सम्बद्ध साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से वह एक ऐतिहासिक शासक के रूप में उभरकर सामने आता है, न कि किंवदन्तीपरक।

सन्दर्भ

1. कथा सरित्सागर 18.1
2. शुकसप्तति कथा 5, पृष्ठ 13 अस्ति उज्जयिनी नाम नगरी। तत्र विक्रमादित्यो राजा।
3. राजपुरोहित, भगवतीलाल (सम्पादक) विक्रमादित्य और पुरातत्व, महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, उज्जैन पृष्ठ 14 और 17
4. मिश्र, भास्करनाथ, साँची, पृष्ठ 205

विक्रमादित्य के मुद्रा साक्ष्य

डॉ. जगन्नाथ दुबे
डॉ. आर.सी. ठाकुर

उज्जैन के सुप्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य के अनेक सील और सिक्के प्राप्त हुए हैं। इन पर ईसवी पूर्व प्रथम शती की ब्राह्मीलिपि में विक्रम, उज्जयिनी आदि नाम प्राप्त होते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है–

1. प्रथम ताम्र-मुद्रा

जयपुर निवासी एक व्यवसायी श्री नरेन्द्र कोठारी के व्यक्तिगत मुद्रा-सङ्ग्रह में सङ्गृहीत उज्जयिनी परिक्षेत्र से प्राप्त मुद्राओं का एक केटलॉग 'उज्जयिनी क्वायंस' श्री दिलीप राजगोर ने सम्पादित कर दिशा बुक्स इन्टरनेशनल, मुम्बई से प्रकाशित (2005 ई.) करवाया। उस केटलॉग के पृष्ठ 43 क्रमाङ्क 24/103 पर एक गोल ताँबे की मुद्रा पर अङ्कित अनुकृति दी गई है। इस मुद्रा के पुरोभाग पर द्विभङ्ग मुद्रा में दाहिने हाथ में दण्ड तथा बाँयें हाथ में कमण्डल और शीश पर जटा धारण किये सामने देखते हुए शिव का अङ्कन तथा उनके दाहिनी ओर किनारे पर ब्राह्मीलिपि में लेख 'राजा विक्रम' और मुद्रा के पृष्ठभाग पर एक वृत्त उज्जयिनी चिह्न अङ्कित है। इसका समय लेखक ने ईसा पूर्व प्रथम सदी मानकर राजा विक्रम की प्रचलित मुद्रा घोषित की है। यह सर्वप्रथम मुद्रा है, जिस पर 'राजा विक्रम' नाम अङ्कित है।

2. इस दुर्लभ मुद्रा के प्रकाशन के बाद एक अन्य अभिनव ताम्रमुद्रा अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर के अध्यक्ष डॉ. आर.सी. ठाकुर के सौजन्य से प्राप्त हुई। इस मुद्रा के पुरोभाग पर किनारे पर वृत्तायत बिन्दुओं के मध्य पङ्क्तियुक्त गतिशील अश्व का दाहिनी ओर मुँह किये अङ्कन और पृष्ठभाग पर मुद्रा के मध्य में वेदिका वृक्ष, बाँयी ओर ई.पू. प्रथम शती की ब्राह्मीलिपि में लेख (f) वक्रम इस लेख में व अक्षर और माथा का ऊपरी भाग मुद्रा के किनारे से बाहर हो गया है। दाहिनी ओर ब्राह्मी लिपि में लेख (प्रथम सदी ईसा पूर्व) उजयी (नी) नगर नामाङ्कित है। ऊपर के लेख में ''वि'' की तरह यहाँ पर भी ब्राह्मी 'नी' अक्षर मुद्रा के किनारे से बाहर हो गया है।

अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर से तीन और ताम्रमुद्राएँ मिली हैं, उनका वर्णन निम्न प्रकार से है -

1. इस वृत्ताकार ताम्र-मुद्रा के पुरोभाग पर दाहिने हाथ में दण्ड, बाँयें हाथ में कमण्डल तथा जटा-मुकुट धारण किये सामने देखते हुए समभङ्ग मुद्रा में शिव खड़े हैं। उनके दाहिनी ओर प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मीलिपि में लेख 'राजा विक्रम' और पृष्ठभाग पर उज्जयिनी चिह्न का एकमात्र भाग द्वि-वृत्त चिह्न अङ्कित है।

2. इस गोल ताम्र-मुद्रा के पुरोभाग पर बाँयी ओर ई.पू. की ब्राह्मी लिपि में लेख 'क्रीत (कृत) उसके ऊपरी

भाग पर कुछ दूर ब्राह्मी लिपि में लेख 'विक' तथा निम्न भाग पर एक स्तम्भ की आकृति अङ्कित है। पृष्ठभाग पर द्विवृत्त उज्जयिनी चिह्न अङ्कित है।

3. इस गोल ताम्र-मुद्रा के मध्य में दो समानान्तर रेखाओं के मध्य ब्राह्मीलिपि में लेख 'उज्जनिये' और निम्न भाग में ब्राह्मीलिपि में 'विकमस' नाम अङ्कित है। मुद्रा के पृष्ठ भाग पर द्विवृत्त उज्जयिनी चिह्न और कोण मध्य स्वस्तिक चिह्न अङ्कित है।

अश्विनी शोध–संस्थान, महिदपुर में संगृहीत जानकारी अनुसार राजा विक्रमादित्य नामांकित स्वर्ण मुद्रा–

स्वर्ण मुद्रा, वृत्ताकार, माप 3.0 से.मी., वज़न 8 ग्राम

पुरोभाग मुद्रा के किनारे वृत्तायत किरणों युक्त सूर्य प्रभामण्डल के मध्य वामाभिमुख राजा की आवक्ष प्रतिमा, चौड़ा कपाल, दीर्घायत नेत्र, लम्बी मूँछें तनी हुईं , सिर पर कुछ गोल, शीश पर मणियों से विभूषित आभरण शोभायमान हैं। यह अलंकृत रूप से कन्धे को स्पर्श करता हुआ प्रदर्शित है। गोलकर्ण कुण्डल व गले में मणियों से जटित हार और एकावली सुशोभित है।

पृष्ठभाग मुद्रा के मध्य में वेदिका वृक्ष, वेदिका के दाहिनी ओर उसके सम्मुख सम्प्रभुता का प्रतीक अश्व, उसका आगे का बाँया पैर मुड़ा हुआ खड़ा है तथा वेदिका वृक्ष के बाँयीं ओर उसके सम्मुख निम्न शुंड वैभव का प्रतीक हस्ति खड़ा है। वेदिका वृक्ष के ऊपरी भाग पर अर्द्धचन्द्रयुक्त त्रिमेरु अङ्कित है। त्रिमेरु के ऊपरी भाग पर मुद्रा के किनारे वृत्तायत प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मीलिपि में लेख 'राजा विक्रमादित्य उजेनिय' अङ्कित है। आवक्ष प्रतिमा एवं 'राजा विक्रमादित्य' नामाङ्कित यह सर्वप्रथम भारतीय दुर्लभ स्वर्ण मुद्रा है। इस मुद्रा के पृष्ठ भाग पर अङ्कित प्रतीक वेदिका वृक्ष, अर्द्धचन्द्रयुक्त त्रिमेरु, वृक्ष के सम्मुख खड़ा अश्व और निम्न शुंड हस्ति द्वितीय तथा प्रथम सदी ईसा पूर्व की ताम्र-मुद्राओं पर अङ्कन की परम्परा है।

'राजा विक्रमादित्य' नामाङ्कित स्वर्णमुद्रा–

स्वर्णमुद्रा पृष्ठभाग में अङ्कित प्रतीक वेदिका वृक्ष -

(1) द्वितीय-प्रथम सदी ईसा पूर्व की ताम्र-मुद्राओं पर इस प्रकार के वेदिका वृक्ष का अङ्कन है।

(2) पूर्व में प्राप्त प्रकाशित एक अन्य ताम्रमुद्रा पर वेदिका वृक्ष का अङ्कन उसके दाहिनी तरफ 'विक्रम' नाम और बाँयी ओर 'उज्जयिनी' नाम अङ्कित है। अन्य प्रकाशित ताम्रमुद्राओं पर प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मी में 'राजा विक्रम' नाम अङ्कित है।

(3) वेदिका वृक्ष के दाहिनी ओर खड़े हुए अश्व का अङ्कन दूसरी प्रथम सदी ईसा पूर्व की मुद्राओं पर चित्रित है। इस मुद्रा पर विशेष रूप से अश्व का बाँया पैर घुटने से मुड़ा हुआ और अश्व की पीठ पर जीन दर्शायी गयी है।

(4) वेदिका वृक्ष के बाँयीं ओर निम्न शुंड हस्ति के समान चित्रण द्वितीय-प्रथम सदी ईसा पूर्व की ताम्र मुद्राओं में भी मिलता है। (उज्जयिनी एलन, पृ. 261, Var.b. क्र. 124, प्लेट xxxvi-6, Ele. to r TRL)

(5) अर्द्धचन्द्रयुक्त त्रिमेरु चाँदी व ताँबे की आहत मुद्राओं के पश्चात् ताँबे की ढलित मुद्राओं तदनन्तर परम्परागत रूप में इस प्रतीक को सातवाहन और शक-क्षत्रप शासकों ने भी अपनाया।

(6) इस मुद्रा पर ब्राह्मीलिपि में अङ्कित 'राजा विक्रमादित्य उजेनिय' लेख की भाषा-महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा प्रकाशित मुद्राओं और मुद्राङ्कन पर यथा 'राजा विक्रम' नामाङ्कित शिव प्रकार की मुद्राएँ उन

पर अङ्कित ब्राह्मी लेख 'राजा' इस स्वर्ण मुद्रा के लेख के समतुल्य है। 'उजेनिय' नाम गढकालिका से प्राप्त मृण्मुद्रा पर अङ्कित ब्राह्मी लेख के समान है। इस स्वर्णमुद्रा की प्रमुख विशेषता यह है कि इस पर 'विक्रम' नाम के स्थान पर पूर्ण नाम 'विक्रमादित्य' उल्लेखनीय है।

कॅटलाग ऑफ दि क्वायन्स ऑफ दि नाग किंग्ज ऑफ पद्मावती

डॉ. ह.वि. त्रिवेदी महोदय कृत 'कॅटलाग ऑफ क्वायन्स ऑफ दि नाग किंग्ज ऑफ पद्मावती' में प्रकाशित फलक क्र. 10 पर दृष्टि डालने पर पाँच ताम्र मुद्राएँ प्रकाश में आईं। इन मुद्राओं के विषय में उन्होंने अपनी प्रस्तावना के अन्तिम परिशिष्ट में यह उल्लेख किया है कि ये ताम्र-मुद्राएँ भिलसा से प्राप्त हुई हैं व अद्वितीय हैं। इन प्रकाशित ताम्र-मुद्राओं का वर्णन निम्नलिखित है - प्रथम मुद्रा के पुरोभाग पर द्वादशारचक्र तथा पृष्ठ भाग पर मुद्रा के मध्य में प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मीलिपि के मोटे अक्षरों में 'विक्रम' नाम, अधोभाग पर ब्राह्मीलिपि के छोटे अक्षरों में परवतन्द्र (पर्वतेन्द्र) और उसके बाद पुनः ब्राह्मीलिपि के मोटे अक्षरों में 'कदस' (कृतस्य) लेख अङ्कित है।

द्वितीय मुद्रा के पुरोभाग पर षड्दल कमल तथा पृष्ठभाग पर ब्राह्मीलिपि में लेख 'कत' (कृत) है। तीसरी मुद्रा के पुरोभाग पर अष्टदल कमल का अङ्कन तथा पृष्ठभाग प्रकाशित नहीं है। चौथी और पाँचवीं मुद्राओं के पुरोभाग पर क्रमशः षड्दल तथा अष्टदल कमल और पृष्ठभाग पर ब्राह्मीलिपि लेख 'कृद्' (कृत) और 'कतस' (कृतस्य) अङ्कित है।

अभिलेख

अँवलेश्वर स्थित एक स्तम्भ-प्रस्तर-खण्ड के शीर्ष भाग पर गोलाई में ब्राह्मीलिपि में उत्कीर्ण तीन पंक्तियों का लेख अभी हाल में मिला है, वह इस प्रकार है–

1. विक्रमादित्य दातेभ्य
2. पोर.....सविमहमय
3. दशपुर

विक्रमादित्य सम्बद्ध मुद्रा एवं मुद्राङ्क -

1 डॉ. वि.श्री. वाकणकर द्वारा गढ़कालिका से प्राप्त मृण्मयी मुद्राङ्क। इसके मध्य में मकारयुक्त स्वस्तिक और किनारे पर वृत्तायत प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मीलिपि में 'राञोसिरि....कतस उजेनिय' लेख' (राज्ञःश्री कृतस्य उज्जयिनी) उत्कीर्ण है।

2 डॉ. वि.श्री. वाकणकर शोध संस्थान, उज्जैन में सङ्गृहीत मृण्मयी मुद्राङ्क के मध्य में प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मीलिपि में लेख 'कुतस ' (कृतस्य) उत्कीर्ण है। लेख के निम्न भाग में नदी में तैरती हुई मछलियाँ प्रदर्शित हैं। यह मुद्राङ्क सर्वप्रथम डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित कृत आदि विक्रमादित्य में सन् 2008 में प्रकाशित हुई।

3 इस मृण्मयी मुद्राङ्क के ऊपरी भाग पर दाहिने किनारे पर ब्राह्मीलिपि में 'श्री' तथा मध्य में 'विक्रमस' (विक्रमस्य) लेख और निम्न भाग में एक वृत्त उज्जयिनी चिह्न अङ्कित है।

4 इस मृण्मयी मुद्राङ्क के निम्न भाग पर ब्राह्मीलिपि में लेख 'कतस' एवं दाहिनी ओर 'उज्जनियि मह' तथा मुद्रा के ऊपरी बाँयी ओर 'व' अक्षर ब्राह्मीलिपि में अङ्कित है।

5 ताँबे की मूँठयुक्त मुद्रा (दुर्लभ मुद्रा) वृत्तायत ईसा पूर्व प्रथम सदी की ब्राह्मीलिपि में लेख 'राज्ञो कतस उजेनि' (राज्ञ: कृतस्य उज्जयिनी) तथा मध्य में क्रास के अन्तर्गत चारों दिशाओं में मकार अङ्कित है।

6 छिद्रयुक्त दुर्लभ शूर्पारक मणि इस मणि के तल में एक वृत्त के अन्तर्गत वृत्तायत ब्राह्मीलिपि में लेख 'राज्ञो वीराकम उजनियि' (वीरों पर आक्रमण करने वाला राजा व उज्जयिनी) उत्कीर्ण है। यह अभिनव मणि उल्लेखनीय है, क्योंकि इसके ऊपरी भाग पर गोल घेरे में एक वृत्त उज्जयिनी चिह्न अर्द्धचन्द्रयुक्त छह मेरु त्रिचक्र, वेदिका वृक्ष, बिन्दुमण्डित स्वस्तिक, मत्स्य और मूषक अलङ्कृत है।

7 ताँबे की मूँठयुक्त मुद्रा के मध्य में ब्राह्मीलिपि में लेख 'देसभानेस' (देश का भानु अर्थात् सूर्य अथवा देश के आभामण्डल का स्वामी) और निम्न भाग में 'कतस' (कृतस्य) लेख अङ्कित है।

8 मृण्मयी मुद्राङ्क के मध्य में ब्राह्मीलिपि में लेख '(रा) जा 'विक्रम' उत्कीर्ण है।

9 मृण्मयी मुद्राङ्क के ऊपरी भाग में 'विक्रम-उज(नियि) और निम्न भाग में मोटे ब्राह्मीलिपि के अक्षरों में 'गोतम-प्रवीर' लेख अङ्कित है।

10 मृण्मयी मुद्राङ्क के ऊपरी भाग में ब्राह्मीलिपि में 'ओम-स्वस्ति' तथा उसके निम्न भाग में मोटे ब्राह्मीलिपि के अक्षरों में 'श्रीविषम' लेख अङ्कित है।

11 मृण्मयी मुद्राङ्क के मध्य दाहिने हाथ में दण्ड धारण किये भैरव खड़े हैं। उनके बाँयीं ओर उनके समीप उनका वाहन श्वान खड़ा है। निम्न भाग में ब्राह्मीलिपि में लेख 'हरभव विक्रम' तथा लेख के नीचे धनुष-बाण अङ्कित है।

12 मृण्मयी मुद्राङ्क के मध्य ब्राह्मीलिपि में लेख '(वि)कमस' और उसके नीचे धनुषबाण अङ्कित है।

13 मृण्मयी मुद्राङ्क के ऊपरी भाग पर एक वृत्त उज्जयिनी चिह्न और उसके नीचे ब्राह्मीलिपि में लेख 'श्रीविक्रम' उत्कीर्ण है।

14 हाथी दाँत निर्मित छोटे आकार की मूँठयुक्त मुद्रा के तल भाग पर ब्राह्मीलिपि में लेख 'विक्रमस्य' उत्कीर्ण है।

15 मृण्मयी मुद्राङ्क के ऊपरी किनारे पर वृत्तायत मोटे ब्राह्मी अक्षरों में लेख 'विक्रम रुद्रस महव' और मध्य में पीठासीन ककुद्मान वृषभ (नन्दी) दाहिनी ओर मुँह किये बैठा हुआ है।

16 मृण्मयी मुद्राङ्क के चारों ओर ब्राह्मीलिपि में लेख 'विकमस' (विक्रमस्य) उत्कीर्ण है।

17 अण्डाकार इस मृण्मयी मुद्रा के ऊपरी भाग पर मोटे ब्राह्मी अक्षरों में लेख 'प्राकमस' (क्रमरहित। प्राक्रम-अक्रम-विक्रम) तथा उसके निम्न भाग पर दाहिनी ओर मुँह नीचे किये अश्व खड़ा है। उसके समीप कतिपय अन्य पशु भी प्रदर्शित हैं।

18 मृण्मयी मुद्राङ्क के मध्य भाग में मोटे ब्राह्मी अक्षरों में लेख 'राजा विकमस' (राजा विक्रमस्य) उत्कीर्ण है।

अश्विनी शोध-संस्थान, महिदपुर में संरक्षित 'विक्रम' नामाङ्कित अद्वितीय ताम्र-मुद्रा-

ताम्र मुद्रा, वर्गाकार माप 1.3 से.मी., वज़न 1.32 ग्राम

पुरोभाग मुद्रा के मध्य में वामाभिमुख अश्व खड़ा है। अश्व के सिर के ऊपरी भाग पर मुद्रा के किनारे पर ब्राह्मीलिपि में 'वि' अक्षर अङ्कित है।

वामभाग मुद्रा के मध्य में उज्जयिनी चिह्न, ऊपर अङ्कित एक वृत्त के अतिरिक्त तीनों वृत्तों के स्थान पर ब्राह्मीलिपि (प्रथम सदी ईसा पूर्व) में तीन अक्षर क्रमशः 'विक्रम' अङ्कित हैं । उज्जयिनी परिक्षेत्र से उपलब्ध ताँबे की मुद्राओं के वाम भाग पर अधिकांशतः उज्जयिनी चिह्न अङ्कित मिलता है। अभी तक इन मुद्राओं पर 46 विविध प्रकार से अङ्कित उज्जयिनी चिह्नों की पहचान हुई है। उनमें एक वृत्त के स्थान पर कहीं वृषभ, हाथी अथवा सिंह दर्शाया गया है । यह सर्वप्रथम उल्लेखनीय अद्वितीय ताम्र-मुद्रा है, जिसके वामभाग पर उज्जयिनी चिह्न के तीन वृत्तों के स्थान और बीच में ब्राह्मीलिपि में 'विक्रम' नाम अङ्कित है।

मुद्रा साँचा–

न केवल सिक्के अपितु ईसवी पूर्व की ब्राम्ही लिपि में विक्रमस अंकित मिट्टी का साँचा भी प्राप्त हुआ है। ऐसे विभिन्न नामांकित या बिना नाम के पाँच सौ से अधिक साँचे अश्विनी शोध संस्थान में विद्यमान हैं।

अलबरुनी का वृत्तान्त एवं विक्रमादित्य संदर्भ

डॉ. एस.एल.वरे

मध्यकालीन भारतीय इतिहास के पृष्ठों में विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त भी तत्कालीन इतिहास की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध कराते हैं, क्योंकि इन विदेशी यात्रियों ने अपने भ्रमण के दौरान यहाँ पर जो देखा, सुना और महसूस किया, उसे ही अपने यात्रा-स्मरणों में लिपिबद्ध कर दिया था।

इन यात्रियों में मध्य एशिया के प्रसिद्ध यात्री अलबरुनी भी था। इसका जन्म सन् 973 ई. में हुआ था। इसका पूरा नाम मुहम्मद इब्न अहमद अलबरुनी था, जिसे उसके देशवासी अबूरैहन के नाम से भी पुकारते थे। यह मध्य एशिया में ख्वारिज्म का निवासी था। वर्तमान में यह क्षेत्र खिवा प्रान्त कहलाता है। अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही अलबरुनी ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का अच्छा ज्ञाता हो गया था। अपनी इसी विद्वत्ता के कारण उसे ख्वारिज्म के शाहजादे का सलाहकार नियुक्त होने तथा देश की राजनीति में हिस्सा लेने का सौभाग्य प्राप्त हो गया था।

गज़नी सुल्तान महमूद, ख्वारिज्म के शासक वंश के निकट का रिश्तेदार था। इसलिए वह ख्वारिज्म को हड़पने की योजना बनाता रहता था। सन् 1017 में उसने इसी उद्देश्य से ख्वारिज्म पर चढ़ाई की और अपने साथ लूट की बेशुमार सम्पत्ति और ख्वारिज्म के शाहजादों तथा उनके सलाहकार अलबरुनी को भी गिरफ़्तार करके गज़नी ले आया। इस समय अलबरुनी की आयु 35 वर्ष की थी। आगे चलकर जब महमूद गज़नवी ने भारत पर (17) आक्रमण किये तब वह अलबरुनी को गुलाम के रूप में अपने साथ लाया था। यहाँ वह यात्रा करने के लिये स्वतन्त्र नहीं था। फिर भी उसने भारतवर्ष के सम्बन्ध में जो जानकारी एकत्र की है, उसके लिए वह यहाँ के पण्डितों, धर्मग्रन्थों, वेदों, पुराणों, स्मृतियों, संहिताओं, सहयात्रियों, महमूद के सैनिक तथा प्रशासनिक अधिकारियों पर निर्भर था। आमजन से उसकी चर्चा नहीं करवायी थी। फिर भी वह यहाँ लगभग दो दशक से अधिक समय तक रहा। इस दौरान जो भी जानकारी एकत्र कर सका, वही अपने स्मरण में लिपिबद्ध करता गया।

भारतीय धर्म दर्शन और ज्ञान-विज्ञान में अलबरुनी की गहरी दिलचस्पी थी। यहाँ आने के पहले ही उसे भारतीय गणित,ज्योतिषशास्त्र और कालक्रम का अच्छा ज्ञान था। यह ज्ञान उसने भारतीय खगोलशास्त्रियों, ब्रह्मगुप्त की कृतियों, गणित, तर्कशास्त्र, दर्शन, नीतिशास्त्र, राजनीति, औषधि तथा रसायनशास्त्र आदि पर अरबी में अनूदित ग्रन्थों से प्राप्त किया था।

सम्भवत: यह पहला मुसलमान था, जिसने कुरान से पुराणों तक का अध्ययन किया। इसके सिवाय उसने ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर, आर्यभट्ट, बलभद्र, उत्पल, ऋषि भुवनकोष, जीवशर्मा आदि के ग्रन्थों का

अध्ययन भी किया। इसी गहन अध्ययन के परिणामस्वरूप ही वह शीघ्र हिन्दू शास्त्रों में वर्णित धर्म दर्शन के साथ संस्कृत व्याकरण और पद्य का आधिकारिक विद्वान् हो गया। वास्तव में अलबरुनी का उन मुसलमान लेखकों में सबसे प्रमुख स्थान है, जिन्होंने हिन्दुओं के दर्शनशास्त्र, वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा सामाजिक संस्थाओं का वर्णन किया है। उसने महमूद जैसे असहिष्णु और मूर्तिभञ्जक सुल्तान के समय अपने ग्रन्थों की रचना की, जिसमें 'किताबुल हिन्द' या 'तहक़ीके-हिन्द' प्रमुख हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी निष्पक्षता, सम्पूर्णता, व्यापकता और ज्ञान की विविधता के लिए 'किताबुल-हिन्द' एक बेजोड़ ग्रन्थ है, जिसकी रचना 1013 से1033 ई. के बीच की गयी थी।

अलबरुनी सत्य का उपासक था, जिस समय महमूद भारत के गाँवों, कस्बों और शहरों को जला रहा था, यहाँ के मन्दिरों को तोड़ता हुआ काफ़िरों का (हिन्दुओं का) कत्लेआम कर रहा था, उस समय अलबरुनी हिन्दुओं की धर्म और संस्कृति के प्रति अपनी पूरी श्रद्धा, सहानुभूति और सहिष्णुता से ग्रन्थ की रचना कर रहा था। मानो एक तरफ तलवार तो दूसरी तरफ क़लम बराबर चलायमान थी। उसने सच्चाई के साथ लिखा है ''महमूद ने देश की समृद्धि को पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था।'' देश के पवित्र तीर्थों का उल्लेख करते हुए वह लिखता है कि यहाँ जो पवित्र स्नान घाट हिन्दुओं ने बनाये हैं, उन्हें देखकर मुस्लिम आश्चर्य करते हैं। उनके लिए इनका वर्णन और निर्माण करना दूर की बात है।''

अलबरुनी मालवा सम्राट् विक्रमादित्य के समय की एक घटना के बारे में लिखता है कि हिन्दुओं का एक विज्ञान है जो कीमियागिरि के समान है, इसकी एक विशेषता यह है कि इसे रसायन कहते हैं, क्योंकि इस शब्द की व्युत्पत्ति रस याने सोने से हुई है। अवन्ति क्षेत्र के राजा विक्रमादित्य के समय की एक रोचक कथा उद्धृत करते हुए वह लिखता है कि राजा विक्रमादित्य के राज्य में उज्जयिनी नगरी में एक व्याडि नामक व्यक्ति निवास करता था। प्रारम्भ में वह छोटा-मोटा व्यापार आदि कर अपनी आजीविका चलाता था। साथ ही रसायन विद्या पर उसका पूरा ध्यान केन्द्रित था। इस कारण उसकी सम्पत्ति और सारा जीवन ही नष्ट हो गया था। निराशा में डूबा हुआ एक दिन नदी के किनारे बैठा था। उसके हाथ में औषधि विद्या का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ भी था। जिसकी सहायता से ही वह तरह-तरह की औषधि बनाता था, पर कुछ घटना के बाद दु:ख और निराशा में डूब गया था। इसी दु:ख के कारण ही वह ग्रन्थ के एक-एक पन्ने फाड़-फाड़ कर शिप्रा नदी में फेंकते जा रहा था। वहीं नदी के दूसरे छोर पर एक स्त्री भी बैठी थी। जब उसने सभी पन्ने पानी में बहते देखे तो एक-एक कर वह उन्हें उठाने लगी। व्याडि ने उसे तब तक नहीं देखा, जब तक ग्रन्थ के सभी पन्ने शिप्रा नदी में नहीं चले गये। फिर उस स्त्री ने पास आकर व्याडि से ग्रन्थ इस प्रकार नष्ट करने का कारण पूछा। व्याडि ने उत्तर दिया कि ऐसा इसलिए किया, क्योंकि उसे ग्रन्थ से कोई लाभ नहीं मिला। उसकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी और वह कंगाल हो गया है। उस स्त्री ने समझाया कि जो कार्य हाथ में लिया जाये उसे अधूरा नहीं छोड़ना चाहिये। उसने काफी रुपये व्याडि को देकर उसे अपनी योजना पूरी करने की सलाह दी। उसने यह भी कहा कि जाओ ! एक अकस्मात् घटना से तुम्हें लाभ भी मिलेगा।

वास्तव में व्याडि ने 'रक्तमाल' नामक एक शब्द का ग़लत अर्थ लगा लिया था। उसके लिए वह ग़लत सामग्री का उपयोग करता रहा। जब एक दिन वह औषधि बना रहा था, तब एक घटना घटी। वह शरीर तथा सिर पर तेल डालकर एक आवश्यक कार्य के लिए आग से दूर गया था। तभी वहाँ छप्पर से निकला एक

नुकीला कोना उसके सिर में लग गया और रक्त बहने लगा। उसने नीचे देखा तो रक्त और तेल मिलकर एक साथ कड़ाही में गिर गया। उसने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया, परन्तु जैसे ही उसने सपत्नीक उस औषधि का लेप किया, वे दोनों हवा में उड़ने लगे। जब सम्राट् विक्रमादित्य ने भी यह सुना तो वे अपने महल से यह अचम्भा भरा नज़ारा देखने के लिए बाज़ार पहुँचे, जहाँ यह घटना घटी थी। व्याडि ने चिल्लाकर राजा विक्रमादित्य से कहा ''मेरे थूँक एवं पसीने के लिए मुँह खोल राजन्।'' परन्तु राजा भला ऐसा कैसे करता, अत: थूँक चौखट पर गिर गया और चौखट सोने से भर गयी। व्याडि और उसकी पत्नी अपनी इच्छानुसार हवा में घूमते थे। उसने इस विज्ञान पर अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की है। लोग कहते हैं कि यह पति-पत्नी अभी भी उज्जयिनी में जीवित हैं और तन्त्र विद्या के जानकारों को ही दिखाई देते हैं। इसी प्रकार की रसायन विज्ञान की एक और रोचक कथा अलबरुनी ने भी अङ्कित की है। यह कथा धारा नगरी से सम्बन्धित है। उस समय, अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरुनी की यात्रा के दौरान धारा नगरी में राजा भोज परमार का शासन था।

इस तरह विक्रमादित्य के शासनकाल में यह घटना उस समय की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, ज्ञान-विज्ञान की जानकारी इन विदेशी आक्रमणकारियों के साथ आये.गुलाम यात्रियों के वृत्तान्त से भी मिलती है, जो मध्यकालीन स्रोत के रूप में उपयोग की जा सकती है।

सन्दर्भ

1. अलबरुनी अनु. (नूर नबी अब्बासी), भारत, पृ. 86, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली, 1992 ई.
2. गुरु शम्भूदयाल, मध्यप्रदेश में विदेशी यात्री, पृ. 6, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, वर्ष 1992 ई.,
3. दिनकर रामधारीसिंह-संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 6, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950 ई.
4 श्रीनेत्र पाण्डेय-भारतवर्ष का वृहत् इतिहास, पृ. 1011, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989 ई.
5. अलबरुनी अनु. (नूरर नबी अब्बासी), भारत, पृ. 181, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली, 1992 ई. एवं इलियट, जिल्द 2, परिशिष्ट डी, पृ. 434-48
6. ईश्वरीप्रसाद-मध्यकालीन भारत का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 24-30, इण्डियन प्रेस प्रा.लि., इलाहाबाद, 1986 ई.
7. श्रीवास्तव आशीर्वादीलाल-भारत का इतिहास, पृ. 11, शिवलाल अग्रवाल, आगरा, 1981 ई.
8. गुरु शम्भूदयाल-मध्यप्रदेश के विदेशी यात्री, पृ. 6-9, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, वर्ष 1992 ई.
9. दिनकर रामधारीसिंह-संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 58, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950 ई.

विक्रमादित्य एवं समकालीन राजवंश व कला

डॉ. रमेशचन्द्र यादव

भारतीय इतिहास में विक्रम संवत् का जितना महत्त्व है, उतना किसी अन्य संवत् का नहीं। विक्रम संवत् के प्रवर्त्तक राजा विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में जो गतिरोध पूर्व में था, अब दूर हो रहा है। इसका आधार है, निरन्तर हो रहे शोधकार्य। विक्रम संवत् का प्रवर्तन ईसा पूर्व 57 में उज्जैन के शासक विक्रमादित्य द्वारा किया गया था। ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में मध्यभारत में अन्य राजनैतिक शक्तियाँ कौन-कौन सी थीं, उनके अन्तराल में उज्जैन पर मालवा का आधिपत्य किस प्रकार हुआ ?

ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी में सिन्ध क्षेत्र से पंजाब राजस्थान में कई गणराज्य थे, सिकन्दर के आक्रमण के कारण इन गणराज्य ने दक्षिण व दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। इन गणराज्यों में मालवा गणसङ्घ भी था, जिसने क्षुद्रक गण के साथ मिलकर सिकन्दर से लोहा लिया था। मौर्यकाल में मगध की साम्राज्यकारी नीति के इन गणराज्यों को न केवल अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, अपितु क्षेत्र भी बदलने पड़े। इनमें यौधेय, मद्र, शिवि, कुकुर, वृष्णि, आभीर, मालव, क्षुद्रक, अर्जुनायन आदि गणराज्य ईसा पूर्व की शताब्दियों में अस्तित्व में रहे। इसी आधार पर जनपद स्थापित हुए। इनमें उज्जैन में मालव, एरण में आभीर, त्रिपुरी आदि के शासकों में सिक्के प्रचलित किये हैं।

पुराणों के विवरण में गर्दभिल्ल वंश का वर्णन मिलता है, जिसे मालव गण की शाखा के रूप में माना गया है। मालवगण की अन्य शाखाओं में दशपुर के औलिकर, माध्यमिका के सोगी थे। पुराणों एवं जैनसाहित्य में गर्दभिल्ल वंश का विवरण है। मत्स्यपुराण में 7 आन्ध्र, 10 आभीर, 7 गर्दभिल्ल, 18 शक राजाओं के शासन करने का उल्लेख है। ब्रह्माण्डपुराण, वायुपुराण में भी इसी प्रकार का विवरण दिया गया है। पं. सूर्यनारायण व्यास ने पौराणिक विवरण के आधार पर 7 गर्दभिल्ल शासकों के नाम दिये हैं। इनमें दर्पव, जलमित्र, भानुमित्र, नभसेन, भाईल्ल, नाईल्ल, नाहड़ हैं। अन्य साहित्यिक विवरण के आधार पर विद्वानों ने विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र बताया है। पौराणिक विवरण में विक्रमादित्य के समकालीन अथवा पूर्व के शासकों पर प्रकाश डाला जाना आवश्यक है।

वृहत्कथामञ्जरी, कथासरित्सागर में उज्जैन के विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य को उज्जैन का शासक बताया गया है। जैन पट्टावलियों तथा जीवन वृत्तात्मक ग्रन्थों में विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल का उल्लेख है। डॉ. राजबली पाण्डेय के अनुसार गर्दभिल्ल व्यक्ति नाम न हो कर वंशनाम है। जैन विद्वान् मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणी से ज्ञात होता है कि गर्दभिल्ल एक बहुत बड़े समुदाय की एक शाखा था। इस ग्रन्थ में विशाला

(उज्जयिनी) का राजवंशिक इतिहास देते हुए विक्रमादित्य को 'मालवराय' बताया गया है। मालवराय से तात्पर्य मालवगण सङ्घ से है। मालवगण की एक शाखा सोगी के नान्दसा यूपलेख में इक्ष्वाकुओं द्वारा स्थापना और प्रथित राजर्षियों के मालवा वंश में उदित होने का उल्लेख है। मालववंश की उपजाति सोगी ने चित्तौड़ व राजस्थान का भूभाग, औलिकर ने दशपुर परिक्षेत्र तथा गर्दभिल्ल ने उज्जैन को अपना मुख्यालय बनाया था।

पौराणिक विवरण में गर्दभिल्लों के साथ आभीर व आन्ध्रों का भी उल्लेख है। आभीरों की एक शाखा त्रैकूटक नाशिक में थी, दूसरी शाखा सौराष्ट्र में तथा तीसरी शाखा एरण में थी। नाशिक के आभीर आन्ध्र भृत्य कहलाये अर्थात् आन्ध्रों के अधीन थे, आन्ध्र सातवाहनों के निर्बल होने पर स्वतन्त्र हो गये। सौराष्ट्र के आभीरों को शकों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। पश्चिमी क्षत्रपों के साथ आभीर जुड़े रहे, अवसर मिलने पर ईश्वरदत्त आभीर ने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर उज्जैन पर आधिपत्य स्थापित किया था। इसी प्रकार नाशिक शाखा के आभीर ईश्वर सेन ने ई. सन् 248 में आभीर संवत् का प्रवर्तन किया था, जो उसने उज्जैन विजय के उपलक्ष्य में किया था। इन दोनों शाखाओं के आभीर परवर्तीकालीन अर्थात् ईसा के पश्चात् के हैं, जबकि गर्दभिल्लों का शासन ईसा पूर्व था। एरन की आभीर शाखा समुद्रगुप्त के आक्रमण के समय तक अस्तित्व में रही। एरण ही वह प्राचीन स्थल है, जो चेदि जनपद की राजधानी थी। चेदि के शासक अहीर थे, जिसे संस्कृत भाषा में आभीर लिखा गया है। अहीरों की बस्ती के कारण अहीरीकेणा, ऐरीकेणा, एरकना आदि नामों से जाना गया। चेदि जनपद के अहिर या ऐर वंश की एक शाखा उड़ीसा गयी थी, जिसका शासक खारवेल अपने हत्थीगुम्फा अभिलेख में महामेघवाहन चेदिराज ऐर वंशी लिखता है। ऐरवंश के अन्य राजवंश दक्षिण से भी प्रकाश में आये हैं।

मालव व आभीर दोनों ही गणसङ्घों में जनता द्वारा चुना हुआ व्यक्ति राजा बनता था। यही कारण है कि इन दोनों गणसङ्घों के शासकों के नामों की जानकारी नहीं है। इन गणों का उन्मूलन गुप्तों से पूर्व भी होता रहा है, जिसके कारण गणमुख्यों का अस्तित्व नहीं रहा। सर्वप्रथम मालव और आभीर गणों को शकों से सङ्घर्ष करना पड़ा। सौराष्ट्र के आभीरों को शकों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, वहीं मालवगण के गर्दभिल्ल शाखा के नायक विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर उज्जैन पर आधिपत्य स्थापित किया। इसी अवसर संवत् का प्रवर्तन किया। जैन पट्टावलियों के अनुसार विक्रमादित्य ने ईसा पूर्व 57 से लेकर 6 तक शासन किया। विक्रमादित्य के गौरवशाली राजत्व काल में उज्जयिनी देश की सांस्कृतिक नगरी बन गयी थी।

मालवगण के उज्जयिनी में पदार्पण से पूर्व अवन्ति क्षेत्र पर विदिशा से शुङ्गवंशज राज शासन कर रहे थे। गर्दभिल्ल शासक महेन्द्रादित्य ने ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में ही उज्जैन विजित किया था और शकों से परास्त होकर पूर्वी ओर पलायन कर नवीन नगर गन्धर्वपुरी बसाई। गन्दर्भसेन गर्दभिल्ल या महेन्द्रादित्य सम्भवतः चुने हुए राजा थे। यह एकमात्र संयोग था कि महेन्द्रादित्य का पुत्र विक्रमादित्य मालवगण का राजा बना, जिसने शकों का उन्मूलन कर उज्जयिनी हस्तगत की।

जनश्रुतियों एवं साहित्यिक साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि विक्रमादित्य पराक्रमी शासक होने के साथ साथ, विद्वानों के आश्रयदाता थे, कालिदास भी उनके नवरत्नों में एक थे। कालिदास ने जब विक्रमादित्य के दरबार में आश्रय लिया, उनकी रचनाएँ पूर्ण हो चुकी थीं, इस कारण उनकी रचनाओं में विक्रमादित्य से

सम्बन्धित विवरण नहीं है। डॉ. राजबली पाण्डेय ने एक पाण्डुलिपि अभिज्ञानशाकुन्तलम् में विक्रमादित्य का उल्लेख किया है। विक्रमादित्य के दरबार में विक्रमादित्य की विजयों एवं समकालीन राजवंशों से सम्बन्धों की जानकारी बृहत्कथामञ्जरी, कथासरित्सागर आदि में मिलती है। बृहत्कथामञ्जरी में राजा विषमशील (विक्रमादित्य) ने म्लेच्छों, कम्बोजों, यवनों, बर्बर हूणों, तुसारों आदि को पराजित कर पृथ्वी का भार उतारा था। सिंहलेश्वर तथा विदर्भराज भी प्रभुत्व स्वीकार करते थे। कथासरित्सागर में गौडाधिराज शक्तिकुमार, कर्णाटक के राजा जयध्वज, लाट के राजा विजयवर्मन, कश्मीर नरेश सुनन्दन, सिन्धुराज गोपाल, सिंहलराज विन्ध्यबल और पारसीक राजा निर्मूक आदि द्वारा विक्रमादित्य के प्रति सम्मान प्रकट करने का उल्लेख है।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की स्थिति पर विचार करें तो पाते हैं कि उत्तर में मगध का विशाल साम्राज्य भग्न हो चुका था, कण्वों के दुर्बल हाथों में साधारण राजशक्ति बनकर रह गया था। बहुत से गणतन्त्र मगध के साम्राज्यवादी दबाव से मुक्त हो गये थे। सुदूर पश्चिमोत्तर सीमा में यवन दुर्बल हो गये थे, वे गणतन्त्रों के पुनर्जीवन तथा पश्चिम से शक एवं पहलवों के दबाव से मृत प्राय हो गये थे। कुषाणों का पदार्पण नहीं हुआ था। दक्षिण में आन्ध्र विदर्भ और कर्णाटक में शासन कर रहे थे। कलिङ्ग, सुदूर दक्षिण, सिंहल एवं अन्य क्षेत्रों में केवल दुर्बल शासक थे। डॉ. राजबली पाण्डेय का अभिमत है कि कालिदास रघुवंशम् में रघु की दिग्विजय की नीति का वर्णन करते हुए अपने आश्रयदाता की विजय नीति का वर्णन करते हैं। यह सम्भव है, किन्तु रघुवंश में उल्लेखित शासकों के नाम तत्कालीन राजवंशों के शासकों से साम्य नहीं रखते हैं, किन्तु कालिदास की दो रचनाएँ मेघदूतम् और मालविकाग्निमित्रम् शुङ्गकालीन हैं।

कुछ विद्वानों ने कालिदास के प्रथम आश्रयदाता शुङ्गों को माना है। कालिदास वृद्धावस्था में उज्जैन में विक्रमादित्य के दरबार में आये थे। मेघदूत में विदिशा व दशार्ण जनपद का उल्लेख एवं मालविकाग्निमित्रम् की विदर्भ की घटना ऐतिहासिक है, जो अग्निमित्र के समय की है। जिससे स्पष्ट होता है कि कालिदास परवर्ती शुङ्गों के दरबार से विक्रमादित्य के दरबार में आये होंगे।

विक्रमादित्य का राजत्वकाल संस्कृति के उत्कर्ष का काल था, निश्चय ही कला की पृष्ठभूमि इसी काल में सुदृढ़ हुई। साँची व भरहुत में शुङ्गों के समय कला का विकास हुआ, वह ईसा पूर्व में चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। विक्रमादित्य को इसका श्रेय न मिलते हुए शुङ्ग व सातवाहनों को मिलता है। साँची के तोरण द्वार पर सातकर्णि प्रथम के अभिलेख से स्पष्ट होता है कि इस स्तूप की वेदिका व शेष तोरण द्वार विक्रमादित्य के समय बने। इस समय कला के दो पक्ष थे एक लोककला, दूसरी राजकीय या राजाश्रित कला। विदिशा के शुङ्गों के समय वैष्णव धर्म के जो मन्दिर व स्तम्भ ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में स्थापित हुए थे, उनका विकास विक्रमादित्य के समय हुआ। विदिशा के बेसनगर में हेल्योडोरस स्तम्भ के बाद ताड़ध्वज स्तम्भ, मकरध्वज स्तम्भ, सिंह स्तम्भ आदि मन्दिरों के निर्माण के साथ विक्रमादित्य के काल में स्थापित हुए। लोककला के महत्त्वपूर्ण नमूने विदिशा के यक्ष, यक्षिणी व पवाया से प्राप्त मणिभद्र यक्ष (ग्वालियर सङ्ग्रहालय) की प्रतिमाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रवाह को ईसा के प्रथम शताब्दी में विद्वानों ने कुषाणों के प्रभाव से विकसित माना, जबकि इसका श्रेय विक्रमादित्य एवं उनके राजत्वकाल के साहित्य-सृजन को देना चाहिये।

गान्धार कला एवं मथुरा कला केन्द्र की तरह म.प्र. में दशपुर कला केन्द्र स्थापित हुआ। मालवगण की शाखा औलिकरों के संरक्षण में दशपुर में एक कला केन्द्र विकसित हुआ, जिसे मालव कला केन्द्र नाम दिया जाना चाहिये। मन्दसौर संग्रहालय में लगभग 25 कलाकृतियाँ औलिकर काल की 4 थी शती ई. से 6वीं शती ई. की हैं।

ग्वालियर में विक्रमादित्यकालीन प्रतिमाएँ

नरेशकुमार पाठक

मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व संग्रहालयों में केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल, ग्वालियर का अपना विशिष्ट स्थान है। ग्वालियर किले के ग्वालियर दरवाज़े के निकट बने इस महल को तोमर राजा मानसिंह ने (1486-1516) पन्द्रहवीं शताब्दी में बनवाया था। इस महल में भूतपूर्व ग्वालियर रियासत के पुरातत्त्व विभाग के अधीक्षक श्रीयुत मोरेश्वर बलवन्त गर्दे ने अक्टूबर 1913 में संग्रहालय स्थापित कर राज्य के इतिहास से सम्बन्धित पुरावशेषों को संग्रहीत किया। इस संग्रहालय को महाराजा माधवराव सिन्धिया के आदेश से मई 1922 में जन-सामान्य के लिए खोल दिया गया। संगहालय में मौर्यकाल से मराठाकाल तक की पाषाण प्रतिमाएँ संग्रहीत हैं। इन प्रतिमाओं में महाराजा विक्रमादित्य की समकालीन प्रतिमाएँ हैं। सर्वमान्य विद्वानों के अनुसार विक्रमादित्य का काल प्रथम शती ईसा पूर्व माना गया है। संग्रहालय में विदिशा एवं पवाया जिला ग्वालियर से प्राप्त प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है -

मकरशिखर एवं स्तम्भ - मकर शिखर एवं ध्वज सङ्कर्षण तथा प्रद्युम्न की पूजा के प्रतीक थे। वासुदेव सङ्कर्षण और पाँच वृष्णिकारों में प्रमुख थे। विदिशा के क्षेत्र में इसकी महिमा भली-भाँति व्याप्त थी। संग्रहालय में बेस नगर के ईसा पूर्व प्रथम शती के मकरध्वज से सम्बन्धित दो कलाकृतियों का संग्रह है। प्रथम मकर शिखर को हरिहर कृष्ण कुदेशिया ने मत्स्य शिखर बताया है। जबकि एस.के. दीक्षित ने इसे भारतीय मूर्तिकला की दुर्लभ कृति बताते हुए लिखा है कि यह मकर एवं मछली के मिश्रित रूप का परिचायक है। (स.क्र. 10ब) मकर की विशाल प्रतिमा में खुले मुख में दाँतों, बड़ी-बड़ी आँखों तथा पंखों का आलेखन मनोहारी है। सी.शिवराम मूर्ति ने इस क़िस्म की मूर्ति को 'मातगजरक' बताया है, परन्तु यह वास्तव में 'होयल मछली' का रूप है। (चित्र क्रमाङ्क एक)

दूसरा मकर स्तम्भ (स.क्र. 4) शिखर पर नीचे से पूर्ण घट है, जिसमें बड़ा और प्रफुल्लित पद्मकोष है, जिसकी लहराती हुई पंखुड़ियाँ या भोज पत्ते बाहर की ओर लहरा रहे हैं। गोल अण्ड है, जिस पर अर्धपुष्प और चार मकरों की आकृतियों का अङ्कन है। चौकोर वेदिका के आकार की चौकी सोलह पहलू, गोल चौकी एवं सबसे ऊपर स्तम्भ लगाने के लिये चौकोर दण्ड बना हुआ है। हरिहर कृष्ण कुदेशिया का कहना है कि यह पद्म स्तम्भ मकर शिखर का नीचे का भाग है। इसके चौकोर अण्ड पर अङ्कित वेदिका गरुड़ स्तम्भ से मेल खाती है। (चित्र क्रमाङ्क दो)

खण्डित स्तम्भ शिखर बेस नगर से दो खण्डित स्तम्भ व शिखर से सम्बन्धित कलाकृतियाँ संग्रहीत हैं।

प्रथम स्तम्भ शिखर (सं.क्र.9) पर ज्योमितिक पुष्प अलङ्करण बना हुआ है, जो नन्दीपाद जैसा रूप ले गया है । (चित्र क्रमाङ्क तीन)। द्वितीय स्तम्भ शिखर पर पूर्ण घट है, (सं.क्र. 10वी) जिसमें प्रफुल्लित पद्मकोष है, जिसकी लहराती हुई पंखुड़ियाँ या भोज पत्ते बाहर की ओर लहरा रहे हैं। इन दोनों शिखरों का निर्माण काल ईसा पूर्व प्रथम शती है। (चित्र क्रमाङ्क चार)

त्रिशूल - विदिशा से प्राप्त बलुआ पत्थर पर निर्मित लगभग प्रथम शती ईसा पूर्व का यह (स.क्र. 427) त्रिशूल किसी दरवाज़े के पार्श्व स्तम्भ पर लगा हुआ होगा, जिसमें सोकेट लगाने के लिए स्थान बनाया गया है, त्रिशूल आकृति ज्यामितीय पत्तियों से अलंकृत है।

ताड़ स्तम्भ शिखर - बेस नगर के ताड़ स्तम्भ शीर्ष खण्ड में ऊपर से पत्ते पद्म की भाँति फैले हैं। (स.क्र.8) उनके बीच में गोल फलों का संयोजन है। दण्ड के गोल भाग को देखकर यह अनुमान होता है कि उसके गोल छेद में कोई प्रस्तर शीर्ष खण्ड फँसा दिया गया होगा, जिसमें कोई मूर्ति रही होगी। डॉ. हरिहर निवास द्विवेदी ने ताल (ताड़) स्तम्भों को नागवंशीय राजाओं के शासनकाल की कृति माना है। जगदीशचन्द्र चतुर्वेदी ने तालों (ताड़) को एक विदेशी अभिप्राय माना है, जिसका भारतीय कला में प्रवेश हुआ है। एस.के.दीक्षित ने ताड़ शिखरों की तुलना रोम व बिजनटिव शिल्पकला से की है और आगे कहा है कि इस कला पर आधारित सम्भवत: भारतीय शिल्प ने अपने वातावरण के अनुकूल इन ताड़ शिखरों का निर्माण किया हो। लेकिन डॉ. के.पी. नौटियाल ने लिखा है कि दीक्षित का यह मत मान्य नहीं हो सकता। अशोक कालीन स्तम्भों की कला के विषय में भी बहुत-से विद्वान् ऐसा कहते थे, इनमें सर जॉन मार्शल व सेनार्ट इन्हें ईरान की अकमीनियन कला से प्रभावित मानते हैं, किन्तु डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस विचार की आलोचना कर ठीक ही कहा है कि कला भी इसी प्रकार भारतीय मिट्टी में पैदा होकर पल्लवित हुई। डॉ. अग्रवाल का मत सर्वमान्य होना चाहिए, किन्तु फिर भी कुछ बातों में अवश्य ही हमने अन्य देशों के साथ आदान-प्रदान किया है। इसमें कोई संशय नहीं कि अशोक कालीन स्तम्भों का विकास अगर भारतीय पद्धति पर आधारित रहा है तो भी कुछ प्राप्त ही किया है। फिर भी ताड़ शिखरों के विषय में ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि शिखर स्तम्भ बनाने की परम्परा को मौर्यकाल में काफी बल मिल चुका था।

गरुड़ शिखर - बेसनगर से प्राप्त गरुड़ध्वज स्तम्भ के शिखर का भाग है, जिसमें वेदिका के आकार का पादपीठ पर गरुड़ के पैर व पूँछ का आलेखन शेष है। (स.क्र.3) यह स्तम्भ 1920 ईस्वी में ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व अधीक्षक श्री मोरेश्वर बलवन्त गर्दे को हेलियोदोरस के गरुड़ स्तम्भ के निकट गरुड़ की मूर्ति का एक अन्य मूर्तिखण्ड प्राप्त हुआ है, जिसमें वेदिकायुक्त पादपीठ पर गरुड़ को पक्षी रूप में तथा गरुड़ के डेने और पञ्जों में दबा हुआ सर्प स्पष्ट है। इसे देखकर सर जान मार्शल ने यह अनुमान किया था कि होलियोदोरस के आस-पास खड़े किसी अन्य स्तम्भ का शीर्ष भाग रहा होगा। यह गरुड़ शिखर लगभग प्रथम शती ईस्वी का प्रतीत होता है। (चित्र क्रमाङ्क पाँच)

मणिभद्र यक्ष - मणिभद्र यज्ञ की यह प्रतिमा विशालकाय होते हुए भी कला के क्षेत्र में अनुपम कृति है। यह प्रतिमा पवाया (जिला ग्वालियर) के निकट किले के मुख्य द्वार के समीप ही एक खेत में पड़ी मिली थी, बताया जाता है कि इसे किसान के हल ने पलट दिया था। डॉ. हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि इस

प्रतिमा का ठोड़ी के ऊपर मुँह टूट गया है जो उपलब्ध नहीं हुआ है, फिर भी ठोड़ी के नीचे मुटाई के कारण अलेट स्पष्ट दिखायी देती है। बड़े पेट के नीचे घुटने तक आने वाली धोती कुछ बेडोल ढंग से बँधी हुई है। सामने की पट्टी और पीछे की काछ पञ्जों तक लटकती है। पैर सूजे भद्दे हैं। इस प्रतिमा में सुकुमार सौन्दर्य चाहे न हो, परन्तु विशालता और प्रभावोत्पादन की शक्ति है तथा यह निम्न मध्यम वर्ग की पूजा की प्रतिमा ज्ञात होती है। बाँयी भुजा में थैली है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह उसकी निधि है। दाँयी भुजा कुहनी से टूटी है, जो सम्भवत: अभयमुद्रा में रही होगी। यक्ष ने लम्बी धोती पहनी है। एक काठला गले में है, जिसका पिछला किनारा दो सुन्दर मोटे-मोटे धागों से बँधा है। यज्ञोपवीत धारण किये हैं। दाँयी भुजा में भुजबन्द पहने है और बाँई कलाई में कँगन जैसा कोई आभूषण है। पादपीठ पर लेख उत्कीर्ण है। अभिलेख की लिपि ब्राह्मी भाषा संस्कृत है। उत्कीर्ण लेख एक फुट नौ इञ्च लम्बाई में एवं नौ इञ्च चौड़ाई में लिखा है। इसका ऊपरी भाग कुछ खण्डित है। परिणामस्वरूप ऊपर की पंक्ति में अक्षरों के ऊपर लगने वाली मात्राएँ या तो मिट गई हैं, या कुछ धूमिल और अस्पष्ट हो गयी हैं। इसी कारण प्रथम पंक्ति के अक्षरों का सही-सही लेख पढ़ने में कुछ कठिनाई उपस्थित हो गयी है। यह अभिलेख कुल मिलाकर 6 पंक्तियों में है। यह गद्य में लिखा गया है। इस अभिलेख की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इस बात का उल्लेख भी किया गया था कि यह लेख शिव नन्दी राजा के शासन के चौथे वर्ष में एक समिति के सभासदों ने देवता की पुष्टि हेतु ग्रीष्म के द्वितीय पक्ष की द्वादशी को इस प्रतिमा की स्थापना की थी। इसकी स्थापना किसी धनवान व्यक्ति ने नहीं की थी, अपितु इसके लिये अनेक व्यक्तियों ने दान दिया गया। यही कारण है कि अभिलेख के अन्त में इष्ट देव से उन व्यक्तियों के कल्याण के लिए अर्चना की गयी है, जिन्होंने इसके लिये दान दिया था। इतना ही नहीं इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कल्याण की कामना के साथ-साथ इन दानवीरों की यश गाथा भी की गयी है, जिन्होने इसके लिये दान दिया। इसमें इन धनदाताओं के नामों का भी उल्लेख है। इस अभिलेख का वाचन नीचे दिया जा रहा है। एम.बी. गर्दे ने कुछ अस्पष्ट अथवा मिटे अक्षरों की रचना अनुमान से की है। जानकारी के लिये उन रूपों को कोष्ठक के अन्तर्गत रखा गया है। इसका पाठ पंक्तियों के अनुसार दिया जा रहा है -

प्रथम पंक्ति - (21) ज्ञा: श्वा (ि) शिव (न) न्दिस्य संव (त्स) रेचतुर्थ ग्रीष्म पक्षे द्वितीय 2 दिवसे
द्वितीय पंक्ति - द्व (ा) द (शे) 102 यतस्य (।) गोष्ठम मणिभद्र भक्तागर्भ सुखित भगवतों।
तृतीय पंक्ति - मा(ि)ण भद्रस्य प्रतिमा प्रतिष्ठाय यति गोष्ठयाम्
भगवा आयु बालम् वाचम् कल्प (ा) शाम्यु
चतुर्थ पंक्ति - दयम व प्रीतो दिससु (व) ब्राह्मणस्य गोतमस्यं क (भा) रस्य ब्राह्मणस्य रूहदा
सस्य शिव (त्र) दाँये पंक्ति में गोतमस्य शब्द पंक्ति के ऊपर लिखा गया है।
पञ्चम पंक्ति - शम भूंत (ि) स्यज (।) वस्य खर (जबल) स्य शिव (ने) भिस् (य) शिवम् (ह) स्य (कु) मकस्य धन दे।
छठी पंक्ति - वस्य दा।

नागकाल का यह एकमात्र अभिलेख है। इसकी लिपि को देखकर विद्वानों ने इस अभिलेख को ईस्वी की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी का मानते हैं। इस अभिलेख में शिव नन्दी को उसके राज्यारोहण के चौथे

वर्ष में स्वामी लिखा है। स्वामी प्राचीन अर्थों में स्वतन्त्र राजा के लिये लिखा जाता था। अतएव शिवनन्दी को उसके राज्य के चौथे वर्ष बाद कनिष्क ने हराया होगा। सन् 78 से 175 ई. के आस-पास नागों को अज्ञातवास करना पड़ा। वे मध्यप्रदेश के पुरिका आदि चले गये। इस प्रतिमा को एक गोष्ठिक के सदस्यों ने संस्थापित किया था। स्पष्टत: यक्ष मणिभद्र ही है, जिसके आधार पर परखम यक्ष मणिभद्र की ही मूर्ति लगती है। ऐसी मान्यता है कि पवित्र मणि (भद्रमणि) कुबेर के निकट सहयोगी और कोषाध्यक्ष यक्ष मणिभद्र के पास थी। धन चिरायु होने की कामना से ही यक्ष पूजा का प्रचलन आरम्भ हुआ था।

इस यक्ष मणिभद्र को एम.बी. गर्दे व एस.के दीक्षित ने कुषाणकालीन तीसरी शताब्दी का काल संयुक्त माना है, परन्तु पवाया से तीसरी शती के कुषाण कला के कुछ भी चिह्न नहीं मिले हैं, किन्तु डॉ. हरिहर निवास द्विवेदी ने ईसा पूर्व प्रथम शती माना है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे भारत की 18 प्रमुख यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं में रखा है। इसके सम्बन्ध में लिखा है कि इस प्रतिमा को लेख में मणिभद्र कहा गया है जो मणिभद्र के भक्तों की गोष्ठी द्वारा स्थापित की गई थी। इस प्रतिमा में बेस नगर की कुबेर यक्ष प्रतिमा के समान हाथ में थैली लिये हैं, जो कुबेर के सहायक मणिभद्र की कुछ बाद की प्रतिमा है। डॉ. कान्तिप्रसाद नौटियाल ने उपर्युक्त तथा कथित विचारों के आधार पर लिखा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि बेस नगर की यक्षी की मूर्तियों की पद्धति मौर्यकाल में ही आरम्भ हुई, किन्तु शुंगकाल में यक्ष धर्म सम्प्रदाय की महत्ता मिलते ही सारे उत्तरीय भारत में और मुख्यत: विदिशा, मथुरा, पवाया इत्यादि स्थानों में यक्ष की अनेकानेक प्रतिमाएँ बनने लगीं तथा भरहुत एवं साँची के प्रसिद्ध स्तूपों में भी कला ने अपना क्षेत्र विस्तार किया। पवाया की मणिभद्र यक्ष प्रतिमा बेस नगर की प्रतिमाओं से कुछ बाद की हो सकती है, किन्तु किसी भी दशा में कुषाणकालीन नहीं। स्पष्टत: यह ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के द्वितीय चरण की हो सकती है। 170×70×30 से.मी. आकार की प्रतिमा बलुआ पत्थर पर निर्मित है। (चित्र क्रमाङ्क छह)

उपर्युक्त प्रतिमाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सम्राट् विक्रमादित्य के काल में भारतीय कला समग्र रूप से पल्लवित एवं पुष्पित हुई। इस काल की कला का अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय है।

सन्दर्भ

1. ठाकुर सूर्य कुमार वर्मा-ग्वालियर का पुरातत्त्व, पृ. 3-4
2. कुदेशिया हरिहर कृष्ण-केन्द्रीय संग्रहालय, ग्वालियर, निर्देशिका, पृ. 14
3. दीक्षित एस.के.- 'ए गाइड टू सेंट्रल आर्केलॉजिकल म्यूजियम, ग्वालियर, 1962, पृ. 15-16
4. चक्रवर्ती कल्याण कुमार-'ग्वालियर फोर्ट, नई दिल्ली, 1984, पृ. 95
5. शर्मा राजकुमार - 'मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का सन्दर्भ ग्रन्थ', भोपाल, 1974, पृ. 467, क्रमांक 9
6. पूर्वोक्त, पृ. 467, क्रमांक 11
7. पूर्वोक्त, पृ 480, क्रमांक 427
8. दीक्षित एस.के. - पूर्वोक्त, पृ. 16. यह ताड़ स्तम्भ वर्तमान में रानी दुर्गावती संग्रहालय, जबलपुर में प्रदर्शित है।
9. द्विवेदी हरिहरनिवास - 'ग्वालियर राज्य में प्राचीन मूर्तिकला', विक्रम स्मृति ग्रन्थ, संवत्, 2001, पृ. 607
10. चतुर्वेदी जगदीशचन्द्र - 'मध्यप्रदेश के कला मण्डप', ग्वालियर, 1982, पृ. 21
11. दीक्षित एस.के.-पूर्वोक्त, पृ. 14
12. ठाकुर एस.आर. - कैटलॉग ऑफ स्कल्प्चर्स इन दी आर्किलॉजिकल म्यूजियम ग्वालियर', एम.बी., पृ. क्रमांक 13
13. गर्दे एम.बी. - 'गाईड टू दी आर्केलॉजिकल म्यूजियम एट ग्वालियर', 1928, फलक II A एवं ग्वा.पु.रि. संवत् 1990 वर्ष 1933-34 ग्वालियर 1938, फलक 9 ए संवत् 1992 वर्ष 1935-36 फलक 6
14. शर्मा मोहनलाल 'पद्मावती' भोपाल 1971, पृ. 1-2
15. द्विवेदी हरिहरनिवास - 'ग्वालियर राज्य में प्राचीन मूर्तिकला', पूर्वोक्त, पृ. 691, फलक 33. क्रमांक 2-3
16. ठाकुर एस.आर.- पूर्वोक्त, पृ. 3, क्रमांक 14
17. वाजपेयी अतिमा- 'मध्यप्रदेश के नागवंशी सिक्के', दिल्ली, 1981, पृ. 47
18. द्विवेदी हरिहरनिवास - 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख', ग्वालियर, 1947, पृ. 16
19. गर्दे एम.बी. - 'पद्मावती' ग्वालियर, 1952, पृ. 21 एवं गर्दे एम.बी. 'ए गाइड टू दी आर्केलॉजिकल म्यूजियम एट ग्वालियर, पूर्वोक्त, पृ. 28, फलक
20. दीक्षित एस.के. - पूर्वोक्त, पृ. 24
21. द्विवेदी हरिहरनिवास - त्रिपुरी (विदिशा, पद्मावती और बाघ) ग्वालियर, 1954, पृ. 51
22. अग्रवाल वासुदेवशरण - 'भारतीय कला' वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1977, पृ. 122-123 एवं 126 चित्र
23. नौटियाल कान्तिप्रसाद - 'मध्यप्रदेश में मूर्तिकला का विकास मौर्यकाल से गुप्तकाल तक, ऐतिहासिक विवेचन, ग्वालियर मेला हीरक जयन्ती स्मृति उपायन, 1967-68

सम्राट् विक्रमादित्य एवं गढ़वाल हिमालय

डॉ. अजय परमार

यह सर्वविदित है कि जिस राष्ट्र की कृषि उन्नत होगी, वहाँ उद्योग उन्नत अवस्था में होंगे। जहाँ उद्योग उन्नत अवस्था में होंगे, वहाँ व्यापार उन्नति करेगा। अत: जिस राष्ट्र की कृषि, उद्योग और व्यापार समृद्धशाली होगा, वहाँ कला और संस्कृति भी अपने अलग-अलग रूपों में समृद्धि को प्राप्त करेगी, परन्तु ये तभी सम्भव है कि जब उस राष्ट्र का शासक स्वयं विद्वान्, उच्च चरित्र, न्यायप्रिय एवं आमजन की उन्नति में संलग्न रहकर, उनके दु:ख-दर्द को समझने वाला हो।

प्रथम शती ई.पू. में उज्जयिनी को राजधानी बनाकर मालवा पर शासन करने वाले महाराज विक्रमादित्य ऐसे ही सम्राट् थे। वे भारतीय इतिहास में सिर्फ एक शासक के रूप में ही नहीं वर्णित हैं, अपितु भारतीय जन-मानस के मन-मस्तिष्क में वो पूर्णरूपेण आदर्श बनकर छाये हैं। आज सम्पूर्ण भारतवर्ष में सम्राट् विक्रमादित्य के सम्बन्ध में कितनी ही कहानियाँ प्रचलित हैं, (जैसे विक्रम-वेताल, सिंहासन बत्तीसी, पच्चीसी आदि) जो इन्हें विद्वान्, न्यायप्रिय, लोकपालक शासक के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं।

विक्रमादित्य के समय बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार ने भारतीय समाज को प्रभावित किया। अहिंसा पालन के सिद्धान्त ने राष्ट्र की सीमाओं को जहाँ कमजोर किया, वहीं चतुराश्रम व्यवस्था को भी हानि पहुँचायी। वैदिक धर्म को इससे आघात हुआ। ऐसे में शुङ्ग वंश के पश्चात् विक्रमादित्य ने धर्म की पुन:स्थापना में महती भूमिका निभाई। इनके शासनकाल में राज्य की आर्थिक अवस्था उन्नति के शिखर पर थी। विक्रमादित्य की राजधानी उज्जयिनी भी स्वयं देशी-विदेशी व्यापार का प्रमुख केन्द्र थी, जबकि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, वैशाली, हस्तिनापुर, वाराणसी, तक्षशिला उस समय के अन्य प्रमुख व्यापारिक नगर थे एवं भृगुकच्छ, सुपारक, ताम्रलिप्ति भी व्यापारिक बंदरगाह थे, जिनका उज्जयिनी से सम्पर्क था। ऐसे में आर्थिक समृद्धि ने जहाँ राज्य की जनता को भविष्य के लिए निश्चिन्तता प्रदान की, वहीं आम जनों का ध्यान अपने धर्म और संस्कृति को विकसित करने की ओर भी गया। विक्रमादित्य ने स्वयं वैदिक धर्म की पुन:स्थापना के इस कार्य को आगे बढ़ाया।

राजकीय संरक्षण प्राप्त होने का ये परिणाम हुआ कि लोगों के मन में पुन: वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थों, महाकाव्यों, पुराणों, आरण्यक ग्रन्थों के प्रति विश्वास उत्पन्न हुआ। फलस्वरूप चतुराश्रम व्यवस्था की पुन:प्रतिष्ठा हुई और शैव, शाक्त, वैष्णव एवं सौर धर्म के प्रति जन आस्था का पुन: सञ्चार हुआ। अध्यात्म, मोक्ष जैसे उदात्त पक्षों को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान साधना तपस्या को इसका साधन बनाया गया।

शैव सम्प्रदाय का अनुयायी होते हुये भी विक्रमादित्य ने अपने राज्य में प्रजा को इच्छानुसार धर्माचरण की स्वतन्त्रता प्रदान की। परिणामस्वरूप उज्जयिनी भारतीय धर्म और दर्शन की केन्द्रस्थली बन गयी। उनके द्वारा 57 ई.पू. में विक्रमी संवत् की शुरूआत ने तो ब्राह्मण धर्म को एक नया आयाम प्रदान किया तथा ये संवत् काल एवं तिथियों के निर्धारण का मुख्य आधार बना। परिणामस्वरूप खगोलशास्त्र, गणित, ज्योतिषशास्त्र के ज्ञान में अतिशय वृद्धि हुई और ज्ञान-विज्ञान के नये द्वारों को इसने खोला। आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक उन्नति के इस काल ने तत्कालीन कला को पूर्णत: प्रभावित किया। कलाकार द्वारा अपने इष्ट देव को धार्मिक भावना के वशीभूत हो अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत करने, उन्हें उच्चतम स्थान प्रदान करने तथा सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत करने की जिज्ञासा ने कला को भिन्न-भिन्न रूप प्रदान किये। इस प्रकार कला ने धर्म के साथ समन्वय स्थापित कर भारतीय कला को और समृद्धशाली बनाया, जिसे गुप्त शासकों द्वारा अपनाया गया और जिसका विकसित रूप हम पूर्व मध्यकालीन मन्दिर वास्तुकला एवं प्रतिमा कला में देखते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम गढ़वाल हिमालय परिक्षेत्र को देखें, तो यहाँ से प्रागैतिहासिककालीन मानवों द्वारा तराशे गये पत्थरों के विभिन्न औजारों की प्राप्ति, शैलाश्रयों तथा गुफाओं पर उनके द्वारा रेखाङ्कित की गई कलाकृति से यह अवश्य सिद्ध होता है कि इस क्षेत्र में कला की शुरूआत तभी हो चुकी थी, जब मानव अपने विकास की आरम्भिक अवस्था में था। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों जैसे वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, बौद्ध-जैन साहित्य आदि से ये सिद्ध हो चुका है कि ये क्षेत्र प्रारम्भ से ही ब्रह्म की साधना का स्थल रहा है। यही नहीं प्राचीन भारतीय इतिहास जो विभिन्न राजवंशों के नाम से (यथा मौर्य, शुंग, सातवाहन, कुषाण, गुप्त, हर्ष एवं राजपूत काल) जाना जाता है कि सत्ता ने किसी-न-किसी रूप में स्थानीय शासकों को राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से अवश्य प्रभावित किया, जिसकी पुष्टि प्राचीन साहित्यों यथा पाणिनिकृत राजन्यादि गुण, पतञ्जलिकृत महाभाष्य, कालिदासकृत रघुवंशम् मेघदूतम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम्, समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति, बाणभट्टकृत हर्षचरित, ह्वेनसाङ्ग के यात्रा-वृत्तान्त से भी होती है, जिनमें हमें गढ़वाल हिमालय की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति के साथ-साथ उत्तराखण्ड की बदलती जलवायु, सर्दी, गर्मी, बरसात, बसन्त ऋतुओं, तत्कालीन पशु-पक्षियों, पत्तियों, वनस्पतियों की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

कालिदास की रचनाओं में उत्तराखण्ड के वर्णन से सिद्ध होता है कि गढ़वाल हिमालय परिक्षेत्र मालवा प्रदेश से जुड़ा हुआ था। यही नहीं विक्रम संवत् 745 (688 ई.) में मालवा (धारा नगरी) से आकर सोन गोत्रीय परमार वंशीय कनकपाल ने गढ़वाल हिमालय में स्थित चौड़ागढ़ या चाँदपुरगढ़ को राजधानी बनाकर नवीन राजवंश की स्थापना की। कहा जाता है कि उसने वहाँ शासन कर रहे बद्रीनाथ के राजा भानुप्रताप (सोमपाल) से राज्य को प्राप्त कर नवीन राजवंश की नींव डाली, जो सिद्ध करता है कि मालवा प्रदेश ने किस प्रकार आगे चलकर गढ़वाल हिमालय परिक्षेत्र को राजनैतिक दृष्टि से भी प्रभावित किया।

मध्य हिमालय का यह परिक्षेत्र प्राचीन समय से ही ब्रह्म की साधना का स्थल रहा है। इस लिये आध्यात्मिक शान्ति, मोक्ष प्राप्ति एवं सत्य की खोज एवं तीर्थस्थलों की यात्रा के लिये यहाँ सम्पूर्ण भारत से लोगों का आना जारी रहा, साथ ही आक्रमणकारी के रूप में भी लोग यहाँ आये। इन दोनों कारणों से आये

लोग यहाँ हमेशा के लिये बस भी गये। आवागमन की इस प्रक्रिया में मध्य हिमालय के लोगों का सम्पर्क जब बाहरी लोगों से हुआ तो स्थानीय संस्कृति और कला पर इनका प्रभाव पड़ा।

पुष्यमित्र शुङ्ग के समय जहाँ कला में धर्म को समाहित करने के विचार की झलक हमें देखने को मिलती है। वहीं विक्रमादित्य के शासनकाल में ब्राह्मण धर्म की उन्नति के फलस्वरूप कला ने धर्म को अपने में आत्मसात् करने की प्रक्रिया भी शुरू की। परिणामस्वरूप कला भिन्न-भिन्न रूपों में नवीनता के साथ प्रकट हुई, जिसका प्रभाव पूर्व मध्यकाल तक विकसित हो चुकी प्रतिमा कला में भी देखने को मिलता है।

इस आधार पर यदि गढ़वाल हिमालय की बात कहें तो यहाँ हमें शैव, शाक्त, वैष्णव और सौर धर्म से सम्बन्धित प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है, क्योंकि गढ़वाल हिमालय सदा से ही शैव धर्म के प्रचार और प्रसार का केन्द्र रहा है। इसलिए हमें शिव के विभिन्न रूपों की प्रतिमाओं के यहाँ दर्शन होते हैं।

1. लिङ्ग प्रतिमा - प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से शिव प्रतिमा के दो रूप हैं लिङ्ग प्रतिमा और रूप प्रतिमा। लिङ्ग उपासना की प्राचीनता पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों से सिद्ध भी हो चुकी है। इसकी सार्वभौमिकता भी विद्वान् विवेचित कर चुके हैं। स्वयं शिव और शक्ति को लिङ्ग का प्रतीक माना गया है, जिससे सृष्टि का उद्भव हुआ। संहार के समय सम्पूर्ण चराचर इसी में लीन हो जाते हैं। इसी से पुनः सृष्टि होती है। आगम और शिल्प ग्रन्थों में लिङ्गों के तीन प्रकार बताये गये हैं (क) निष्कल (ख) सकल (ग) मिश्र (मुख) लिङ्ग। गढ़वाल हिमालय में गोपेश्वर (चमोली), रूपनाथ (चमोली), बिनसर (पौड़ी गढ़वाल), दानड़ी, महड़ग्राम (पौड़ी गढ़वाल) आदि मन्दिरों में उपर्युक्त लिङ्ग प्राप्त हुए हैं।

2. वीणाधर दक्षिण प्रतिमा - शिव की शान्त प्रतिमाओं में दक्षिण प्रतिमाएँ उस स्वरूप को प्रकट करती हैं, जिसमें वे ज्ञान-विज्ञान और कलाओं के उपदेशक के रूप में प्रकल्पित किये गये हैं। वे ज्ञान, योग, व्याख्यान और सङ्गीत आदि शास्त्रों के आचार्य हैं और दक्षिण मुख बैठकर ही उन्होंने ऋषियों को प्रथम उपदेश दिया। नारायणोपनिषद् में शिव प्रतिमा के भेद इसी आधार पर वर्णित है। जनपद चमोली के गोपेश्वर, रुद्रनाथ तथा पौडी जनपद के पैठाणी ग्राम आदि से ये प्रतिमा प्राप्त हुई हैं, जिसमें विभिन्न अलङ्करणों से भूषित बैठे हुए चतुर्भुजी शिव के पिछले दाँये हाथ में पद्म व अक्षमाला तथा बाँये हाथ में त्रिशूल शोभित है तथा उनके अगले दोनों हाथों में वीणा सुशोभित है।

3. कल्याण सुन्दर प्रतिमा - शिव विवाह से सम्बन्धित प्रतिमाएँ कल्याण सुन्दर प्रतिमा कहलाती हैं, जिसमें शिव को पार्वती का पाणिग्रहण करते दर्शाया गया है। पुरोहित रूप में ब्रह्मा यज्ञाग्नि के आगे बैठे तथा कन्या के दाता लक्ष्मी सहित विष्णु घट लिये खड़े दिखाई देते हैं। गढ़वाल हिमालय के वासुदेव मन्दिर (जोशीमठ) से इस प्रकार की प्रतिमा प्राप्त हुई है।

4. शिव नृत्य प्रतिमा - शिव का प्रसिद्ध रूप नटराज है। उन्हें नाट्यशास्त्र का प्रथम प्रतिष्ठापक माना गया है। आगमों में वर्णित है कि नटराज शिव एक सौ आठ नृत्यों के अन्यतम नट हैं। उनके सांध्य नृत्य, ताण्डव नृत्य, नादान्त नृत्य से कौन परिचित नहीं है ? उदाहरणार्थ नादान्त नृत्य उनकी पाँच क्रियाओं (पञ्च कृत्य) सृष्टि, स्थिर, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह को निरूपित करता है। वास्तव में नटराज विश्वकला के लिए भारत का महानतम योगदान है। गढ़वाल हिमालय के गोपेश्वर, ऊखीमठ, लाखामण्डल, मलेथा आदि से इस प्रकार की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

5. एकल शिव प्रतिमा- गढ़वाल हिमालय के ग्राम साङ्करी (कर्णप्रयाग), गुंदियाड़ गाँव (उत्तरकाशी), मैंगाधार (टिहरी गढ़वाल) से द्विभुजी त्रिनेत्रधारी अलङ्करण युक्त शिव प्रतिमा प्राप्त हुई हैं।

6. अंधकासुरवध प्रतिमा- लाखामण्डल (देहरादून), बिनसर (पौड़ी गढ़ववाल), थान गाँव (उत्तरकाशी) में चतुर्भुजी, अष्टभुजी शिव को अंधकासुर का वध करते हुए प्रदर्शित किया गया है। खोपड़ियों की माला, सर्पजटाजूट धारण किये विभिन्न अलङ्करणों से युक्त शिव के हाथों में विभिन्न आयुध प्रदर्शित हैं और दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है।

7. उमामहेश प्रतिमा- आलिङ्गन निमग्न उमा-महेश प्रतिमाएँ भारतीय प्रतिमा कला में एक आध्यात्मिक सत्य है, जिसमें काम ऊँचे उठकर एक आध्यात्मिक आनन्द बन गया है। ये प्रतिमाएँ एकता के तान्त्रिक सिद्धान्त पर बल देती है। एक-दूसरे को निहारते उमा-महेश वस्त्राभूषण युक्त हैं। महेश चतुर्भुजी हैं। निचले बाँयें हाथ से वे पार्वती का आलिङ्गन किये दर्शाये गये हैं, उनका बाँया हाथ उनके किसी अङ्ग पर अवलम्बित है। शेष हाथों में वो पुष्प, सर्प, अक्षमाला, त्रिशूल धारण किये हैं। देवी उमा दाँयें हाथ से महेश के स्कन्ध को या कटि को आलिङ्गन किये है या हाथ में दर्पण या पुष्प या मातुलिङ्ग पकड़े हैं। स्थानक या आसनस्थ ये प्रतिमाएँ गढ़वाल हिमालय के दानड़ी ग्राम (पौड़ी गढ़वाल), थराली, तोप गाँव (कर्णप्रयाग), देवलसारी (उत्तरकाशी), लाखामण्डल (देहरादून) से प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गढ़वाल हिमालय ने शैव धर्म को पूरी तरह से अपने में आत्मसात् किया। सम्राट् विक्रमादित्य के समय हुई धार्मिक उन्नति ने विभिन्न कालों में प्रतिमा कला को विकसित करने का जो आधार प्रदान किया, उसके दर्शन हमें गढ़वाल हिमालय की प्रतिमा कला में होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सम्राट् विक्रमादित्य से लेकर कनकपाल परमार तक मालवा प्रदेश ने गढ़वाल हिमालय परिक्षेत्र को सांस्कृतिक रूप से अवश्य प्रभावित किया है और मालवा प्रदेश से इस प्रदेश के सम्बन्ध प्राचीनकाल से लेकर आगे भी जारी रहे।

सन्दर्भ

1 गढ़वाल हिमालय में उत्तर में 29025' अक्षांश से लेकर दक्षिण में 31018' अक्षांश तक तथा पूर्व में 8006' देशान्तर से लेकर पश्चिम में 77049' देशान्तर तक विस्तृत है। इसके पूर्व में कुमाऊँ, पश्चिम में हिमालय प्रदेश, उत्तर में तिब्बत तथा दक्षिण में सहारनपुर और बिजनौर जनपद स्थित हैं। यह उत्तरप्रदेश का उत्तर पर्वतीय भाग है, जो कि अब उत्तराखण्ड नामक अलग राज्य के अन्तर्गत अस्तित्व में आ चुका है। इसका क्षेत्रफल 30090 वर्ग किलोमीटर है तथा इसमें उत्तरकाशी, चमोली, टिहरी गढ़वाल, पौड़ी गढ़वाल, देहरादून तथा रुद्रप्रयाग छह जिले हैं।

2 अलकनन्दा घाटी में श्रीनगर, डांग से प्रागैतिहासिककालीन औजारों की प्राप्ति।

3 कीमनी गाँव और डुग्री (दोनों चमोली) से ऐसे शैलाश्रयों की प्राप्ति, जिसमें प्रागैतिहासिककालीन मानव द्वारा चित्रण किया गया है।

4 डॉ. अजय परमार, प्राचीन भारतीय प्रतिमा कला एवं मन्दिर वास्तुकला पृ. 18-22

5 पाणिनिकृत राजन्यादिगण, 43/5/3

6 डॉ. अजय परमार, पूर्वो क्त, पृ. 22

7 रघुवंशम्, अङ्क 1, श्लोक 48

8 मेघदूतम्, पृ. 53

9 अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क 1, पृ. 4

10 विक्रमोर्वशीयम्, अङ्क 1 और 4

11 डॉ. अजय परमार, पूर्वोक्त, पृ. 22

12 डॉ. गौरीशङ्कर चटर्जी, हर्षवर्धन, पृ. 161

13 डॉ. अजय परमार, पूर्वोक्त, पृ. 23

14 यहाँ एक किंवदन्ति यह है कि कवि कालिदास ने कालीमठ (जिला रुद्रप्रयाग) में ही माँ काली की आराधना कर विद्वत्ता का वरदान प्राप्त किया था तथा यहीं उनका नाम कालिदास (अर्थात् काली का दास) पड़ा। ऐसी भी मान्यता है कि कालिदास का जन्म गढ़वाल के कबिल्ठा नामक ग्राम में हुआ था।

15 1949 की एक राजकीय रिपोर्ट के आधार पर दी गई बेकेट सूची, कवि देवराज रचित गढ़वाल राजा वंशावली (वि.सं. 1947) श्लोक 32, स्वदेशी नृपवंशावली (वि.सं. 1955) जिसकी 21 पृष्ठों वाली पाण्डुलिपि देवप्रयाग में सी.जोशी के ग्रन्थागार में देखी गई। इन वंशावलियों में कनकपाल के राज्य प्राप्ति की तिथि, सर्वत्र विक्रमी संवत् 745 (688 ई.) बतायी गई है।

16 धारा नरेश कांदिलराव का पुत्र कनकराव, वि.सं. 745 में राज्याभिषेक के पश्चात् कनकपाल नाम से प्रसिद्ध हुआ। (गढ़राज्य का इतिहास, पृ. 26-29)

17 पं. हरिकृष्ण रतूड़ी, गढ़वाल एंशियन्ट एण्ड मॉर्डन, पृ. 184

18 एच.ए. कटनर, शार्ट हिस्टी ऑफ सेक्सवरशिप।

19 अपराजितपृच्छा, 196, शिव महापुराण, विद्येश्वर संहिता, अ. 16

20 लयं गच्छति भूतानि संहारेनिखिल यत:, राव जी. 1(2) पृ., लिङ्गपुराण 19.15

21 एलिफेंटा की शिव मन्दिर गुहा में परिणय प्रतिमा, एलोरा की रूप प्रतिमाएँ, कन्नौज की पुरुष प्रमाण प्रतिमा आदि।

22 कुमार स्वामी, द डांस ऑफ शिव, पृ. 70

23 हैवल, हिमालयाज इन इण्डियन आर्ट, पृ. 60

24 ओ.सी. गाङ्गुली, इण्डियन, स्कल्पचर, दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, खण्ड 3, पृ. 552-53

25. संभवत ये वे ही परमार हैं जिन्हें भविष्यपुराण तथा चारण ग्रन्थों में विक्रमादित्य के वंशज कहा गया है। (संपादक)

जैन आगम में विक्रमादित्य : एक समीक्षात्मक विमर्श

डॉ. विनयकुमार राय

भारतीय इतिहास में महान् प्रतापी अक्षुण्ण कीर्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य का स्थान अद्वितीय है। उनके द्वारा चलाये गये विक्रम नामक संवत्सर शताब्दियों से सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त एवं मान्य है। विक्रमादित्य की कथाएँ भारत के कोने-कोने के जन-मानस में कथा-कहानियों के माध्यम से प्रसिद्ध हैं। विक्रमादित्य की कथाओं और संवत्सर की अधिक प्रसिद्धि है, तदनुसार विक्रमसंवत्सर का प्रवर्त्तक शकारि विक्रमादित्य नाम का राजा सन् 57 ई. पूर्व हुआ था।

जैन परम्परा के अनुसार इस समय बलमित्र नामक राजा ने शकों को हटाकर उज्जयिनी पर अधिकार किया था। इसके पूर्व इतिहास शकों के आगमन, गर्दभिल्ल के उच्छेदन का विशद वर्णन कालकाचार्य सम्बन्धी उल्लेखों एवं कथाओं में पाया जाता है। जैन पुरातत्त्वविद् मुनि कल्याणविजय जी नेअपने ''वीरनिर्वाणसंवत् और जैनकालगणना'' नामक निबन्ध में इस घटना का सङ्क्षिप्त विवरण दिया है और यह घटना बलमित्र के 48वें वर्ष के अन्त में घटी। यह समय महावीर निर्वाण का 453वाँ वर्ष था।

''चार वर्ष तक शकों का अधिकार रहने के बाद बलमित्र भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और 8 वर्ष तक वहाँ राज्य किया। भरौच में 52 वर्ष और उज्जैन में 8 वर्ष, सब मिलाकर 60 वर्ष तक बलमित्र भानुमित्र ने राज्य किया। यही बलमित्र पिछले समय में 'विक्रमादित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी सत्ता के 60 वर्षों से 5वाँ आँकड़ा पूरा हुआ। बलमित्र भानुमित्र के बाद उज्जयिनी के राजसिंहासन पर नभःसेन बैठा।'' ''नभःसेन के पाँचवें वर्ष में शक लोगों ने फिर मालवा पर हमला किया, जिसका मालव प्रजा ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पाई। इस शानदार जीत की यादगार में मालवप्रजा ने ''मालवसंवत्'' नामक संवत्सर भी चलाया, जो पीछे से ''विक्रमसंवत्'' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

विक्रमादित्य का मौर्यवंशी होना

अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को युवराज पदवी देकर उसे उज्जयिनी का शासक बना दिया। वहाँ रहते हुए कुणाल अन्धा हो गया। उसके यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था सम्प्रति। अशोक की मृत्यु के पश्चात् पाटलिपुत्र के सिंहासन पर सम्प्रति बैठा, लेकिन अशोक के दूसरे पुत्रों ने सम्प्रति का विरोध किया, इसलिए दो वर्ष पीछे सम्प्रति पाटलिपुत्र छोड़कर अपने पिता की जागीर उज्जयिनी में आ गया। अब पाटलिपुत्र का राज्य पुण्यरथ (या दशरथ) ने सम्भाल लिया। इस प्रकार मौर्य राज्य के दो हिस्से हो गये। सम्प्रति का कोई पुत्र नहीं था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उज्जयिनी का राज्य अशोक के पौत्रों, तिष्यगुप्त के

पुत्रों बलमित्र और भानुमित्र नामक राजकुमारों ने हस्तगत कर लिया। ये दोनों भाई जैन धर्म के उपासक थे। ये महावीर निर्वाण से 294 वर्ष बाद उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठे और 60 वर्ष तक राज्य करते रहे। इनके पश्चात् बलमित्र का पुत्र नभोवाहन उज्जयिनी का राजा बना। यह भी जैन धर्मी था। इसकी मृत्यु महावीर-निर्वाण से 394 वर्ष बाद हुई। नभोवाहन के पश्चात् उसका पुत्र गर्दभिल्ल उज्जयिनी के राज्य सिंहासन पर बैठा। विक्रमादित्य इसी गर्दभिल्ल का पुत्र था।

पहली बात मौर्यराज्य का दो शाखाओं में विभक्त हो जाना तो कई विद्वानों ने माना है, परन्तु गर्दभिल्ल का मौर्यवंशी होना केवल ''हिमवत्स्थविरावली'' में मिलता है, दूसरा साक्ष्य जिसका उल्लेख मुनिकल्याण विजय ने ''वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना'' नामक अपने निबन्ध में किया है।

विक्रमादित्य का जैन धर्म को अङ्गीकार करना -

जैन न्याय को क्रमबद्ध करके इसे शास्त्र का रूप देने वाले, संस्कृत के अद्वितीय पण्डित श्री सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के समकालीन माने जाते हैं, इन्हीं सिद्धसेन के उपदेश से प्रभावित होकर विक्रमादित्य ने जैन धर्म को अङ्गीकार किया।

विक्रमादित्य, सिद्धसेन और कालिदास -

विक्रमादित्य विद्या का प्रेमी था और विद्वानों का बड़ा आदर सम्मान करता था। ज्योतिर्विदाभरण में लिखा है कि उसकी सभा में नौ पण्डित रत्न थे, जिनके नाम ये हैं- (1)धन्वन्तरि (2) क्षपणक (3) अमरसिंह (4) शङ्कु (5) वेतालभट्ट (6) घटखर्पर (7) कालिदास (8) वराहमिहिर (9) वररुचि। इनमें क्षपणक से तात्पर्य सिद्धसेन दिवाकर से है। क्षपणक का रचा कोष 'अनेकार्थध्वनिमञ्जरी' प्रकाशित है। कालिदास विक्रमादित्य का जामाता था, क्योंकि उसका विवाह विक्रमादित्य की पुत्री प्रियंगुमञ्जरी से हुआ था।

वैसे तो 13वीं शताब्दी के पश्चात् विक्रम सम्बन्धी जैनसाहित्य का निर्माण प्रारम्भ होता है। उन सब में विक्रमादित्य के साथ 'सिद्धसेन दिवाकर' नामक जैन विद्वान् के सम्बन्ध का उल्लेख पाया जाता है। सिद्धसेन दिवाकर का समय 5वीं शताब्दी है। अत: ये उल्लेख चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय सम्बन्धी प्रतीत होते हैं और ये क्षपणक (सिद्धसेन दिवाकर) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय के दरबार में थे।

इसी प्रकार अन्य कई उल्लेखों में भी विक्रमादित्य नामसाम्य वाले विक्रमादित्यों के सम्मिश्रण हो गये मालुम होते हैं। खेद है, हमारे मूर्धन्य विद्वानों ने विक्रमादित्य की कथा रूप विशाल कथा साहित्य पर अभी तक गम्भीर आलोचनात्मक दृष्टि नहीं डाली, अन्यथा कई साहित्यिक साक्ष्य में कई नवीन तथ्य प्रकाश में आने की सम्भावना थी।

विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन आगम की सूची

1. संस्कृत (मौलिक ग्रन्थ)

रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
1 सं. 1290-94	पञ्चदण्डात्मक विक्रमचरित्र	अज्ञात	प्र. हीरालाल हंसराज जामनगर उ. जैन साहित्यनो सङ्क्षिप्त इतिहास।
2 13वीं या 15वीं शती	सिंहासन द्वात्रिंशिका	क्षेमङ्कर	प्र.उ. लाहौर के सूची पत्र में।
3 सं. 1471 लगभग	विक्रमचरित्र (कासहद्रच्छीय)	उ. देवमूर्ति	सं. 1496 लि. प्रति लींबडी भंडार
4 सं. 1490 मा. सु. 14 रवि	विक्रम/पञ्चदण्ड चरित्र खम्भात	साधुपूर्णिमा गच्छीय रामचन्द्रसूरि	दानसागर भण्डार, बीकानेर
5 सं. 1490, दर्भिका ग्राम	विक्रमचरित्र 3 (सिंहासन द्वात्रिंशिका)	साधुपूर्णिमा रामचन्द्रसूरि	उ.जै.सा.सं. इतिहास
6 सं. 1499	विक्रमचरित्र 4 - 6712	तपागच्छीय शुभशील अहमदाबाद	प्र. हेमचन्द्रसूरि ग्रन्थमाला,
7 सं. 1524 लगभग	सिंहासनद्वात्रिंशिका 5	धर्मघोष गच्छीय राजवल्लभ	सं. 1612 लि. प्रति गोविन्द पुस्तकालय, बीकानेर
8 अज्ञात	विक्रमचरित्र पत्र 36	राजमेरू	जीरा (पञ्जाब) भण्डार
9 अज्ञात	विक्रमचरित्र	इन्द्रसूरि	उ.जैन ग्रन्थावली, पृ. 259
10 अज्ञात	विक्रमपञ्चदण्डप्रबन्ध	पूर्णचन्द्रसूरि	उ.जैन ग्रन्थावली, पृ. 260

3. लोकभाषा में विक्रम सम्बन्धी जैन साहित्य

रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
1 सं. 1499	विक्रमचरित्रकुमाररास	बडतपा गच्छीय साधुकीर्ति	उ.जै.गु.क.भा. 1, पृ. 35
2 सं. 1565 ज्ये.सु.	विक्रमसेन चौपई	पूर्णिमा गच्छीय उदयभानु	उ.जै.गु.क. भा 1, पृ. 113
3 सं. 1596 के लगभग	विक्रमरास	तपागच्छीय धर्मसिंह	उ.जै.गु.क. भा. 1, पृ. 165
4 सं. 1638 मा. सु. 7 रवि उज्जयिनी	विक्रमरास	आगम विडालंब गच्छीय मङ्गल-माणिक्य	उ.जै.गु.क. भा. 1, पृ. 247
5 सं. 1722 पो. सु. 8 बु. खेमतानगर	विक्रमादित्यचरित्र	तपा गच्छीय मानविजय	अभयसिंह भण्डार
6 सं. 1724 काती कूड नगर	विक्रमसेन चौपई	तपा गच्छीय मानसागर	वर्द्धमान भण्डार
7 सं. 1724 पो.व. 10 गढवाडा	विक्रमादित्यरास	तपा गच्छीय परमसागर	उ.जै.गु.क. भा. 3, पृ. 1228
8 सं. 1737 लगभग	विक्रमादित्यरास	खरतर दयातिलक	अपूर्ण बीकानेर

2. प्रबन्ध-सङ्ग्रहों के अन्तर्गत विक्रमादित्य सम्बन्धी सामग्री

रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
11 सं. 1334 चै.शु. 7 शु.	प्रभावक-चरित्र	प्रभाचन्द्र सूरि	वृद्धवादि प्रबन्ध में
12 सं. 1361 वै.सु. 15 वर्द्धमानपुर	प्रबन्ध-चिन्तामणि	मेरुतुङ्गसूरि	विक्रमार्क प्रबन्ध में
13 सं. 1405 दिल्ली	प्रबन्ध-कोष (चतुर्विंशति प्रबन्ध)	राजशेखर सूरि	विक्रमादित्य-प्रबन्ध, सिद्धसेन-प्रबन्ध
14 13वीं शती से 15वीं शती	पुरातन प्रबन्ध सङ्ग्रह	अज्ञात	विविध विक्रमार्क प्रबन्धों में
15 अज्ञात कर्तृक कई प्रबन्ध एवं चरित्र जैन भण्डारों में प्राप्त है। (नं. 11 से 14 के ग्रन्थ सिंधी-जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हैं।)			

सन्दर्भ

1 भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ. 785, जयचन्द्र विद्यालङ्कार और ''चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य'', पृ. 39, ले. गङ्गाप्रसाद मेहता।

2 प्र. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 10, अङ्क 4

3 इस घटना का कुछ विस्तार से वर्णन कल्याण विजय जी ने अपने ''आचार्य कालक'' लेख में किया है ।

4 जैन परम्परा की कालकाचार्य कथा की ऐतिहासिकता को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है।
1) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ग्रन्थ के पृष्ठ 39 में श्रीयुत् गङ्गाप्रसाद मेहता लिखते हैं ''कालकाचार्य-कथा नामक जैन ग्रन्थ से पता चलता है कि मध्य भारत में शकों ने विक्रमाब्द के पहले अपना राज्य स्थापित किया था, जिन्हें विक्रम उपाधि वाले एक हिन्दू राजा ने परास्त किया। जिन शकों का मालवा में युद्ध हुआ था, उनके राजाओं ने शाही और शाहानुशाही अर्थात् राजाधिराज के विरुद धारण कर रखे थे, इस बात का भी उस कथा में उल्लेख है, जिसका समर्थन शक राजाओं के सिक्कों पर उत्कीर्ण उपाधियों से पूरी तरह होता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि उक्त कथानक का आधार ऐतिहासिक है।''
2) पुरातत्त्ववेत्ता स्टेन कोनो का कथन है कि इस जैन कथा पर अविश्वास करने का लेश भर भी कारण मुझे प्रतीत नहीं होता। (खरोष्ठी शिलालेख कॉपर्स ई. इंडिकेरम् जिल्द, 2, भाग-1, पृ. 25-27)

5 अहमदाबाद से ''जैनसत्यप्रकाश'' का विक्रमविशेषाङ्क निकला है। उसके विविध लेखों में विक्रम सम्बन्धी जैन साहित्य और परम्परा का विस्तृत विवेचन किया गया है।

6 प्रबन्धचिन्तामणि (विक्रमार्क प्रबन्ध) 121

7 देखें सन्मति प्रकरण प्रस्तावना एवं प्रभावकचरित्र में मुनि कल्याणविजय का पर्यालोचन।

विक्रमादित्य और कालकाचार्य कथानक

डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन

मौर्यकाल में मालवा क्षेत्र को अनेक जैन पण्डितों और साधुओं का निकट सम्पर्क प्राप्त हुआ, जिनमें चन्द्ररुद्र, मुद्रकगुप्त, आर्यरक्षित, आर्य आषाढ़, वज्रस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं।

मौर्यों के पतन के पश्चात् शुङ्गसातवाहनशक काल का प्रारम्भ होता है। ईसा की प्रथम शती पूर्व में जैन ग्रन्थों और पुराणों के अनुसार उज्जैन में गर्दभिल्ल वंश का शासन था। गर्दभिल्ल का नाम कुछ अटपटा-सा लगता है। कुछ इतिहासकार गर्दभिल्ल का सम्बन्ध कलिङ्ग के राजा खरवेल से जोड़ते हैं, किन्तु उनकी इस धारणा को सामान्यतया मान्यता नहीं मिल पायी है। कालकाचार्य कथानक के अनुसार उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल के समय जैन आचार्य कालकसूरि उज्जैन में विराजते थे। जैन ग्रन्थों के अनुसार भारतवर्ष में धारावास नगर के राजा वैरिसिंह के पुत्र कालककुमार अनेक कलाओं में पारङ्गत थे। एक समय गुणाकरसूरि से धर्मबोध पाकर उन्होंने जैन-दीक्षा ग्रहण कर ली। पीछे अपने ही गुरु के पट्टधर होकर पाँच सौ शिष्यों के साथ विहार करने लगे। कालक की बहिन सरस्वती भी साध्वी हो गयी, पर उसके सौन्दर्य पर रीझकर उज्जैन का राजा गर्दभिल्ल उसे अपने अन्त:पुर में ले गया। उसे बहुत समझाया गया, पर सब व्यर्थ गया। तब कालकाचार्य अपवाद मार्ग ग्रहण कर साधु वेश छोड़कर राजा का उच्छेद करने के लिये सिन्धु देश के उस पार से शक राजा को ले आये। इससे गर्दभिल्ल मारा गया। शक राजा उज्जैन का राजा बना। कालान्तर में उसके वंश का उच्छेद कर विक्रमादित्य राजा बना। कालकाचार्य ने प्रायश्चित कर पुन: मुनि वेश धारण कर देश देशान्तरों में भ्रमण किया। दक्षिण देश के सातवाहन राजा के अनुरोध पर उन्होंने पर्यूषण की पञ्चमी तिथि को बदलकर चतुर्थी कर दिया। एक समय उन्होंने इन्द्र की निगोद विषयक शङ्काएँ दूर कीं। वे अपने दुर्विनीत शिष्य सागर सूरि को उपदेश देने सुवर्ण भूमि भी गये। पीछे उनका समाधि पूर्वक स्वर्गवास हुआ।

एक अन्य सन्दर्भ के अनुसार कालक धारावास नगर के प्रतापी राजा वज्रसिंह और उसकी सुर सुन्दरी नामक रानी के पुत्र थे। कालक की भेंट गुणाचार्य नामक एक जैन आचार्य से हुई थी और उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था। कालक विद्याव्यसनी थे। उन्हें गर्दभी विद्या सिद्ध थी। यह भी ज्ञात होता है कि गर्दभिल्ल से बदला लेने के लिये आचार्य कालक शकद्वीप (सम्भवत: सिन्ध) चले गये थे और वहाँ शककुलों के प्रमुख साहानुसाही को उन्होंने उज्जैन पर आक्रमण करने का आमन्त्रण दिया था। शकद्वीप में उस समय छियानवें साही विद्यमान थे। इन साहियों के सम्मिलित आक्रमण के परिणामस्वरूप गर्दभिल्ल का उन्मूलन सम्भव हुआ था।

कालकाचार्य सम्बन्धी जैन कथानकों से यह भी ज्ञात होता है कि मालवा क्षेत्र के अनेक नगर एवं ग्राम उस समय जैन धर्म के प्रभाव में थे।

गर्दभिल्ल की मृत्यु के पश्चात् एक जननायक विक्रमादित्य के नेतृत्व में उज्जैन के लोगों ने शकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। परिणामस्वरूप शकों को उज्जैन से पलायन करना पड़ा। विक्रमादित्य 57 ईस्वी पूर्व में उज्जैन का शासक बना। विक्रमादित्य और विक्रम संवत् भारतीय इतिहास की अनसुलझी पहेलियाँ हैं।

'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ग्रन्थ के अनुसार इस विक्रमादित्य के दरबार में जो नौ रत्न सुशोभित होते थे, उनमें एक थे क्षपणक । अनेक विद्वानों की धारणा है कि यह क्षपणक और कोई नहीं होकर जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही थे। कालकाचार्य की भाँति ही सिद्धसेन दिवाकर भी एक चमत्कारी जैन आचार्य थे। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार उन्होंने महाकाल मन्दिर में विक्रमादित्य को ज्योतिर्लिङ्ग के फटन से तीर्थंकर पार्श्वनाथ के दर्शन करवाये थे। चाहे यह घटना अविश्वसनीय ही लगे, इतना तय है कि ईसा की निकट शताब्दियों में मालवा में जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहा था।

शक, कुषाण युग में अनेक युग प्रधान आचार्य भी हो चुके हैं, जिनमें भद्रगुप्ताचार्य आर्यवज्र तथा रक्षितसूरि के नाम गिनाये जा सकते हैं। आगम साहित्य को आर्य रक्षितसूरि ने चार भागों में विभक्त करके जैन धर्म की दृष्टि से इस युग के ऐतिहासिक महत्त्व को और बढ़ा दिया है। आर्य रक्षितसूरि का आगम साहित्य का विभाजन इस प्रकार है -

1. करणचरणानुयोग 2. गणितानुयोग
3. धर्मकथानुयोग 4. द्रव्यानुयोग

इसके साथ ही आचार्य रक्षितसूरि ने अनुयोग द्वार सूत्र की भी रचना की, जो जैन दर्शन का प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है। यह आगम आचार्य प्रवर की दार्शनिक दृष्टि का परिचायक है।

आचार्य कालक एवं विक्रमादित्य विषयक अनेक ग्रन्थ जैन साहित्य में उपलब्ध हैं। प्रस्तुत अध्ययन में आलोच्यकाल में निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाश में आये -

आचार्य कालक विषयक (प्राकृत विभाग)

1. श्री जिनदासगणि महत्तर विरचित : निषीध चूर्ण्यन्तर्गत: कालिकाचार्य कथा सन्दर्भ, सं. 733
2. श्री सङ्घदासगणि क्षमाश्रमण विरचित तद्भाष्यान्तर्गतश्च कालिकाचार्य कथा सन्दर्भ
3. श्री देवचन्द्रसूरि : पूर्णतल्लगच्छ
4. मलधारी श्री हेमचन्द्रसूरि पुष्पमालान्तर्गत कालिकाचार्य कथा संवत् 1221
5. श्री भद्रेश्वरसूरि विरचित कथावसन्तर्गता कालिकाचार्य कथा रचना, संवत् 1221
6. श्री धर्मघोषसूरि विरचित कालिकासूरि कथा, लेखन संवत् 1473
7. श्री भावदेवसूरि (संवत् 1312) कालिकाचार्य कथा
8. श्री धर्मप्रभसूरि (संवत् 1398) विरचित कालिकाचार्य कथानकम्
9. श्री विनयचन्द्रसूरि कालिकाचार्य कथा
10. श्री जयानन्दसूरि विरचिता कालिकाचार्य कथा
11. श्री कल्याणतिलक गणि विरचिता बालावबोध संहिता कालिकाचार्य कथा

12. श्री देवेन्द्रसूरि विरचिता संस्कृतगुर्जर विभाग कालिकार्चा कथा, रचना संवत् 13वीं शताब्दी
13. श्री रामभद्रसूरि विरचिता कालिकाचार्य कथा, रचना संवत् 13 वीं शताब्दी
14. श्री विनयचन्द्रसूरि विरचिता कालिकासूरि कथानकम् , रचना संवत् 14वीं शताब्दी
15. श्री महेश्वरसूरि (पल्लीवाल गच्छीय) विरचिता कालिकाचार्य कथा, लेखन संवत् 1365
16. श्री प्रभाचन्द्रसूरि विरचिता प्रभावक चरितान्तर्गत कालकचरितम्
17. पं. श्री हीररत्न रचित कथानक
18. श्री जिनदेवसूरि विरचिता कालिकासूरि कथा, रचना संवत् 14 वीं शताब्दी
19. श्री श्री माणिक्यसूरि विरचिता कालकाचार्य कथा
20. श्री देवकल्लोल उपाध्याय (श्री मदकेशगच्छीय 1566 वत्सरे) कालिकाचार्य कथा
21. श्री समयसुन्दर उपाध्याय (1666 सं. श्री बृहतखतरगच्छे) कालिकाचार्य कथा
22. श्रीशुभशीलगणि विरचिता भरतेश्वेश्वर : बाहुबली वृत्यन्तर्गता कालिकाचार्यकथा, संवत् 1509
23. श्री धर्मदासगणि विरचिता उपदेश माला टीकान्तर्गत कालिकाचार्य कथा
24. श्री सिद्धर्षि रचित कथा
25. श्री सोमसुन्दरसूरि विरचिता उपदेशमालान्तर्गता कालिकाचार्य कथा, सं. 1457-93
26. श्री रामचन्द्रसूरि विरचित कालिकाचार्य कथा
27. श्री गुणरत्नसूरि (पिप्लगच्छे) विरचिता कालिकासूरि कथा, रचना 16वीं शताब्दी
28. श्री मलधारि हेमचन्द्राचार्य विरचिता पुष्पमालान्तर्गत कालिकाचार्य कथानकम् गृहीत श्रीकालककथासङ्ग्रह

विक्रमादित्य विषयक

क्र.	रचना समय	संस्कृत मौलिक ग्रन्थ	रचयिता
1.	सन् 1233	पञ्चदण्डात्मक विक्रमचरित्र	अज्ञात
2.	13-15वीं शती	सिंहासनद्वात्रिंशिका	क्षेमङ्कर
3.	सन् 1414 लगभग	विक्रमचरित्र	कासहृदगच्छीय उ. देवमूर्ति
4.	सन् 1433	विक्रमचरित्र (पञ्चदण्ड)	साधु पूर्णिमा रामचन्द्रसूरि
5.	सन् 1433	विक्रमचरित्र (सिंहासनद्वात्रिंशिका)	साधु पूर्णिमा रामचन्द्रसूरि
6.	सन् 1442	विक्रमचरित्र	तपागच्छीय शुभशील
7.	1467	सिंहासन द्वात्रिंशिका	धर्मघोषगच्छीय राजवल्लभ
8.	-	विक्रमचरित्र	राजमेरु
9.	-	विक्रमचरित्र	इन्द्रसूरि
10.	-	विक्रम पञ्चदण्ड प्रबन्ध	पूर्णचन्द्र

प्रबन्ध सङ्ग्रहों के अन्तर्गत सामग्री

11.	सन् 1277	प्रभावकचरित्र	प्रभाचन्द्रसूरि
12.	सन् 1304	प्रबन्धचिन्तामणि	मेरुतुङ्गसूरि
13.	सन् 1348	प्रबन्धकोष (चतुर्विंशति प्रबन्ध)	राजशेखरसूरि

14. 13-15वीं शताब्दी	पुरातन प्रबन्ध सङ्ग्रह	अज्ञात

लोकभाषा में विक्रम विषयक जैन साहित्य

15. सन् 1442	विक्रमचरित्रकुमार रास	वडतपागच्छीय साधुकीर्ति
16. सन् 1508	विक्रम चेन चौपइ	पूर्णिमागच्छीय उदयभानु
17. सन् 1539	विक्रमरास	तपागच्छीय धर्मसिंह
18. सन् 1581	विक्रमरास	आगमविद्यालंवगच्छीय मङ्गलमाणिक्य
19. सन् 1665	विक्रमादित्य चरित्र	तपागच्छीय मानविजय
20. सन् 1657	विक्रमसेन चौपइ	तपागच्छीय मानसागर
21. सन् 1667	विक्रमादित्यरास	तपागच्छीय परमसागर
22. सन् 1680	विक्रमादित्यरास	खरतर दयातिलक

विभिन्न कथाओं को लेकर रचित स्वतन्त्र लोकभाषा की कृतियाँ

क. वेतालपच्चीसी

23. सन् 1536	सोरठगच्छीय ज्ञानचन्द्र
24. सन् 1562	तपागच्छीय देवशील
25. सन् 1589	खरतर हेमाणंद
26. सन् 1593	बड़गच्छीय मुनिमाल
27. सन् 1615	तपागच्छीय सिंहप्रमोद

ख. पञ्चदण्ड चौपई

28. सन् 1499	अज्ञात
29. सन् 1503	सिंहकुशल
30. सन् 1526	विनयसमुद्र
31. सन् 1593	बड़गच्छीय मुनि मालदेव
32. सन् 1671	खरतर लक्ष्मीवल्लभ
33. सन् 1676	खरतर लाभवर्धन
34. सन् 1773	तपाभाण विजय

ग. सिंहासन बत्तीसी चौपई

35. सन् 1462	पूर्णिमागच्छीय मलयचन्द्र
36. सन् 1541	ज्ञानचन्द्र
37. सन् 1554	उपकेशगच्छीय विनयसमुद्र
38. सन् 1559	बिंवदनीकगच्छीय सिद्धसूरि
39. सन् 1582	खरतर हीरकलश
40. सन् 1621	तपासङ्घ विजय
41. सन् 1691	खरतर विनयलाभ
42. सन् 1614	अज्ञात

घ. विक्रम खापरा चोर चौपई

43. सन् 1506	खरतर राजशील
44. सन् 1666	खरतर अभयसोम
45. सन् 1670	खरतर लाभवर्धन

ङ विक्रम चौबोली चौपई

46. सन् 1667	खरतर अभयसोम
47. सन् 1705	खरतर कीर्तिसुन्दर
48. सन् 1713	पल्लीवालगच्छीय हीरानन्द

च. विक्रम लीलावती चौपई

49. सन् 1559	कक्कसूरि शिष्य
50. सन् 1607	खरतर कुशलधीर

छ. विक्रम कनकावती चौपई

51. सन् 1707	तपा कान्तिविमल

ज. विक्रम शनिश्चर रास

52. सन् 1631	तपा सङ्घविजय
53. सन् 1679	धर्मसी

सन्दर्भ

1 जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, भाग 2, पृ. 318
2 सेठ एच.सी. : हिस्टोरिसिटी ऑफ विक्रमादित्य (विक्रम व्हाल्यूम, पृ. 539)
3 शाह उमाकान्त प्रेमानन्द : सुवर्ण भूमि में कालकाचार्य (आचार्य विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रन्थ, पृ. 95)
4 द्विवेदी हरिहरनिवास : विक्रम अनुश्रुति (वि.स्म. ग्र. पृ. 165-66)
5 पाण्डेय राजबलि : विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी, पृ. 50
6 धन्वतरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥ ज्योतिर्विदाभरण, 22.10
7 प्रभावकचरित, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध कोश, विविध तीर्थकल्प, विक्रमचरित आदि ग्रन्थों के अनुसार।
8 क्राउझे: पूर्वोक्त, पृ. 402
9 जोशी मदनलाल : दशपुर का ऐतिहासिक महत्त्व और आर्य रक्षितसूरि (श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रन्थ, पृ. 459)
10 उक्त
11 श्री जैन सत्यप्रकाश : विक्रम विशेषाङ्क, पृ. 183-87

कथा-गाथा के दिव्य पुरुष : विक्रमादित्य

डॉ. पूरन सहगल

लोक की दिव्यता और महनीयता अद्‌भुत होती है। वह न तो किसी का चारण होता है, न भाट। जैसा वह देखता है, सुनता है, परखता है, फिर बखानता है "न काहूँ की चाकरी न काहूँ की मेहर"। वह न तो किसी की चाकरी करता है और न किसी पर अतिरिक्त मेहर करता है। उसके बखान सदा समाज सापेक्ष होते हैं। विशेष रूप से गाथाएँ तो समाज का भावनात्मक प्रतिबिम्ब ही होती हैं।

भले ही इतिहास में गाथा नहीं होती हो, किन्तु गाथा में इतिहास अवश्य होता है। ठीक उसी तरह जिस प्रकार इतिहास में पुराण नहीं होते, किन्तु पुराणों में इतिहास अवश्य होता है। इसीलिए मैं मानता हूँ कि लोकगाथाएँ लोक के ही पुराण हैं। आदिकाल से आज तक गाथा का महत्त्व एवं अस्तित्व अक्षुण्य है। गाथा, कथा का गीतात्मक रूप है। वह अपने समय के इतिहास, भूगोल, साहित्य, संस्कृति, रीति-रिवाज, राजनैतिक स्थिति आदि का सटीक एवं रोचक वर्णन करती है। यही कारण है कि उसमें अतिरञ्जकता आ जाती है।

रामायण, महाभारत, पद्मावत, रासो आदि काव्य भी गाथाएँ ही हैं। उन्हें हम एक प्रकार की घटनाओं का क्रमिक सङ्घटक कह सकते हैं। उनकी काव्यमयता, उनके रूपक, अलङ्कार, रस-संयोजन उसे दिव्यता प्रदान करते हैं। गाथा उन्हीं महाकाव्यों का ही लघुरूप है। लम्बे समय तक वाचिक परम्परा में रहने के कारण उसमें भाषा सम्बन्धी बदलाव स्वाभाविक रूप से आ जाता है। युगानुकूल बोल-चाल की भाषा का प्रयोग होने लगता है। इसी प्रकार उसमें रूपक या प्रतीकों में भी फेरबदल हो जाता है। कई बार युग की समस्याएँ भी साङ्केतिक रूप से उसमें जुड़ती-घटती चली जाती हैं। बावजूद इसके उसकी मुख्य कथा या कथानक में बदलाव नहीं आता।

इसलिए यदि हमें अपने इतिहास पुरुषों का सामाजिक और सांस्कृतिक चरित्र जानना अभीष्ट हो, तब हमारा सरोकार इतिहास के बजाय लोक-साहित्यों से होना चाहिए। गीत, कथा, गाथा, लोकोक्ति आदि में उन महामानवों के चरित्र के बीज सूत्र ढूँढ़ पाना अधिक सहज होगा, बजाए इतिहास के।

पिछले कुछ वर्षों में मैंने थोड़ा-बहुत अध्ययन उज्जैन के मालवाधिपति कहूँ या शकारि वीर विक्रमादित्य, रागी-बैरागी विद्वान् राज-योगी भर्तृहरि अथवा भरथरी तथा धार के सरस्वती पुत्र महाराज भोज के विषय में किया। तीनों को लोक में तलाशना अधिक कठिन नहीं लगा। एक महानायक यशोधर्मन् को भी मैं भूल नहीं पाया।

लोक की महिमा अपरम्पार है। लोक के पटल पर कहीं भी यशोधर्मन् का बखान क्यों नहीं मिलता ?

इसका मूल कारण है उनका राजा और केवल राजा बना रहना। लोक राजा को नहीं बखानता। यशोधर्मन् का हूणों से दशपुर जनपद को मुक्त कराने का काम बहुत बड़ा था। सम्भवत: इसी यश के कारण वे यशोधर्मन् पद से विभूषित भी हुए हों, किन्तु वे प्रजा से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सके। प्रजा ही तो ''लोक'' होती है। यही कारण है कि इतिहास के पृष्ठों ने तो उन्हें याद रखा, किन्तु लोक के कण्ठों ने उन्हें स्थान नहीं दिया।

महाराजा विक्रमादित्य को इतिहास से अधिक लोक ने अपने मन-मस्तिष्क और कण्ठ में सम्मान सहित याद रखा। यही कारण है कि विक्रमादित्य, भरथरी और भोज लोक कण्ठ पर विराजित हैं। शताब्दियों से वे लोक में जीवित हैं, इसीलिए वे तीनों किंवदन्ती पुरुष बन गए हैं।

किंवदन्ती पुरुष कहते हुए मुझे एक घटना याद हो आती है मैसूर की। 2004 में मैं भारतीय भाषा संस्थान में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा हिन्दी भाषा का काम करने में पदस्थ था। वहाँ ''अन्य भाषाओं के माध्यम से हिन्दी सीखो'' एक कार्यशाला थी। मेरे पास गुजराती, बङ्गाली, पञ्जाबी और मराठी भाषाओं का काम था। गुजराती में वीनू अतलानी और भरत मेरे साथ काम कर रहे थे। वे कई बार हाथ पर हाथ रखकर कह उठते थे, ''ओ विक्रमादित्य नो वचन छे।'' पहले तो मैं यह समझता रहा वीनू और भरत में कुछ प्रेम-प्रसङ्ग चल रहा होगा। इसी कारण ये दोनों हाथ पर हाथ रखकर कोई वचन देते-लेते होंगे। एक दिन मैंने पूछा वीनू तुम प्रतिदिन, बार-बार ''ओ विक्रमादित्य नो वचन छे।'' कहकर कौन-सा सङ्कल्प लेती हो। वीनू ने बतलाया 'सर! हमें जब किसी बात या वचन को प्रामाणिकता देना होती है तब हम कहते हैं ''ओ विक्रमादित्य नो वचन छे।'' अर्थात् यह वचन नहीं टलेगा, चाहे जो हो जाए।

वीनू अतलानी की यह बात जानकर मैं अचम्भित और गौरवान्वित था। लगभग इक्कीस सौ वर्ष पहले बीत चुके एक राजपुरुष के प्रति कितनी बड़ी आस्था है लोक में ! मालवा की मिट्टी की सौंधी सुगन्ध ने मुझे पुलकित कर दिया। इसी विश्वसनीयता के कारण हम विक्रमादित्य को किंवदन्ती पुरुष कह सकते हैं। रघुकुल के विषय में सुना था ''प्राण जाहिं पर वचन न जाहिं।'' उस दिन मालवाधिपति विक्रमादित्य के लिए भी ऐसा ही मान-सम्मान सुनकर मेरा गौरवान्वित हो उठना स्वाभाविक ही था। मालवा, राजस्थान और गुजरात ही क्यों ? शकारि विक्रमादित्य की गौरवगाथाएँ तो पूरे एशिया में विस्तारित हैं।

पिछले दिनों एक लोकगाथा के कुछ पद मुझे सुनने को मिले। पूरी लोकगाथा प्राप्त नहीं हो पाई। जितना भाग मिला है, वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। लोक-साहित्य का सङ्कलन ठीक वैसा ही होता है, जैसा मधुमक्खी का फूलों से रस एकत्र करना। एक-एक पद-पंक्ति के लिए कई-कई चक्कर लोक गायकों के लगाना होते हैं। तब जाकर कुछ प्राप्त होता है। ऐसे ही एक श्रमसाध्य अभियान में एक गाथा प्राप्त हुई है। इसका प्रारम्भिक भाग ही इतना महत्त्वपूर्ण है कि शेष गाथा यदि नहीं भी मिली होती, तब भी हम महाराजा विक्रमादित्य के विषय में बहुत कुछ जान सकते थे।

महाराजा विक्रमादित्य का चरित्र लोक गाथाओं और गीतों, कथाओं में तथा कहावतों, किंवदन्तियों में जितना बखाना गया है, उसका सार सङ्क्षेप है कि वह परम प्रतापी, यशस्वी, न्यायप्रिय और प्रजापालक था। शेष सभी गुण इन्हीं चार गुणों में सम्मिलित है, गाथा कहती है।

गाथा - सुमरूँ गणक विनायको, गवरीनंद गणेस।
सिव, विसनू, बरमा नमूं, धरणी धरणक सेस॥ 1

धरती पेरा जोवियो, राजां रो महाराज।
परमारथ रे कारणे, कर्या अगणक काज ॥2
कथा सुणाऊँ हाँचली, उज्जैणी रे बीच।
नीत न्याव रा जोवियो, राजा विक्रमदीत ॥3
प्राणा री परवा नहीं, चेतन्यो परहीत।
कुचमान्या, कुचमातिया, रे हरदम भेभीत ॥4
जुद्धजीत जाणे जगत, दानवीर तिन लोक।
गो-बामण ने पूजतां, दे चरणा में धोक ॥5
दान दच्छना खूब दे, करे अजाचो मूल।
विदवानां रे मान में, कद्यां करे न भूल ॥6
ज्ञान, गणित, विज्ञान, जुद्ध, जोतिस, आजुरवेद।
नीत, गीत, सङ्गीत, धन, कवित, पुराण अर वेद ॥7
तंतर, मंतर, जंतरा, हे जतरा निरधार।
हाथ बाँध ऊबा रहे, विक्रम रे दरबार ॥8
जीव मिटे, जिद नी मिटे, नीत, न्याव अर रीत।
धरम अटल चारी पगां, राज विक्रमदीत ॥9
रगसा करतां देस री, शक मार्‌या दस लाख।
महाकार रगसा करी, जुद्ध में राखी साख ॥10
कार कद्यां नी पड़ सके, मारव देस सुकाल।
हरसिद्धां, मां कारका, सदां करे खुसहाल ॥11
इन्दर राजा सरग रा, करे सदा अरदास।
वका पड़यां हमचो करे, सद विक्रम री आस ॥12
विक्रम में विक्रम घणा, न्याव, नीत, अर दान।
वचना रा पाका खरा, धरम-धीर, गणमान ॥13
बंदी जन जस, जै करें , गाथ, गीत, गुणगान।
जेसो जण रोगान वे, वेसो वे सनमान ॥14
विदवानां रा बीच में सोभे विक्रमदीत।
सुणेगुणे, सनमान दे, कवियाँ रा कव्वीत ॥15
अन्न सदाँ निपजे घणो, नी व्हे धन री टोट।
नीर, छीर, घृत, धापमा, नी हे हिरदे खोट ॥16
विक्रम रा दरबार में , नव रतनां रो ओज।
विद्या रो ऊजास वे, अंधकार रो खोज ॥ 17
विदुत्तमा, विदुसी घणी, देस समंदर आर।

मान-पान पूरो वियो, विक्रम रे दरबार ॥18
विक्रम ने बड़ जगन कर, धर्यो नाम जुद्धजीत।
हूरज ज्युँ भलको वियो, वाज्या विक्रमदीत ॥19
राज धजा चहुँ दिस फिरि, नमन करें सब देस।
जस गावें, जै-जै करें, होवे नहीं करेस ॥20
धरम धजा धर घूमग्यो, अस्व आर के पार।
उत्तर-दक्खन तई हुओ, विक्रम रो निरधार ॥21
सिंघासन पे बैठतां, मुख एसो भलकाय।
हूरज ने औचक करे, परक झांप ढब जाय ॥22
शकां हरा जस थापियो, निरभो कर्यो देस।
विसनू अर आदित्य ज्युँ , विक्रम नाम नरेस ॥23
सुरजणियाँ नरतन करें, सुरजण गावें गीत।
जस गावें गंधर्व गण, दुसमण होया मीत ॥24
माता हरसिद्धां नमें, नत रा होवे भोज।
विसनू हरखो सूरमो, हूरज हरखो ओज ॥25
धन-धन माता सीपरा, धन राजा महाकार।
अजबी गजबी रोनका, विक्रम रे दरबार ॥26
आज तलक होयो नहीं, विक्रम जेसो वीर।
जुद्ध, नीत अर न्याव में, हरदम राखी धीर ॥27
कै तो होया रामजी, कै तपया विक्रमदीत।
टेक सदा राखी अटल, राज कर्यो सुध नीत ॥28

मूल का गद्य पाठ

मैं गणनायक, विनायक, गौरीनन्दन गणेश की वन्दना करता हूँ । शिव, विष्णु, ब्रह्मा और धरणीधर शेषजी की वन्दना करता हूँ।

धरती पर राजाओं का राजा हुआ, जिसने परमार्थ के कारण अनगिनत कार्य किए। मैं उन्हीं महाराज विक्रमादित्य की कथा सुनाता हूँ। महाराज विक्रमादित्य उनका नाम था। वे उज्जैन के राजा थे। नीति, न्याय के लिए वे बहुत प्रसिद्ध थे। महाराजा विक्रमादित्य दूसरों के हित के लिए सदा सन्नद्ध रहता था। इसमें वह अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता था। कपटी, छली, विघ्नकारक और दुष्टबुद्धि लोग सदा भयभीत रहते थे।

राजा विक्रमादित्य युद्धजीत और दानवीर था। तीनों लोकों में उसका यश विख्यात था। वह गो-ब्राह्मणों की पूजा करता था, उनके चरणों में वन्दन करता था। दान-दक्षिणा इतनी अधिक देता था कि याचक को अयाचक बना देता था। विद्वानों के मान-सम्मान में कभी भी भूल-चूक नहीं करता था। उसके दरबार में

ज्ञान, गणित, सङ्गीत, धन (वित्त) कवित्त, पुराण और वेदों के कई विद्वान् थे। तान्त्रिक, मान्त्रिक और यान्त्रिक तो दरबार में हाथ जोड़कर खड़े रहते थे।

विक्रम सङ्कल्प के दृढ़ थे। प्राण जाएँ किन्तु सङ्कल्प या वचन नहीं टूटने देते थे। उनके राज्य में धर्म चारों चरणों (सत्य, शुचिता, दान और दया) पर अटल था। उन्होंने देश की रक्षा करते हुए दस लाख शकों को मार भगाया। युद्ध में उनकी साख बनाए रखने के लिए स्वयं महाकाल रक्षक थे। (पद 1 से10 तक)

महाराजा विक्रमादित्य के राज के समय मालवा में कभी भी अकाल नहीं पड़ता था। माता हरसिद्धि सदा खुशहाली रखती थी। स्वर्ग का राजा इन्द्र भी विक्रमादित्य के समक्ष प्रार्थी रहता था। सङ्कटकाल में सहायता की आशा रखता था।

विक्रमादित्य में अनेक विक्रम थे। न्याय, नीति, दान, वचनपालन, धर्म, धैर्यवान एवं गणनायक के सभी गुण उनमें थे। बंदीजन सदा यशोगान करते रहते थे, जैसा जिसका बखान होता था, वैसा उसे सम्मान मिलता था। (पद 11 से 14 तक)

विद्वानों के मध्य विक्रमादित्य अत्यन्त सुशोभित होते थे। वे सबके कवित्त सुनते थे और उन्हें समझकर कवियों को यथोचित् सम्मान देते थे। उनके राज में सदा खूब अन्न पैदा होता था। धन की कमी नहीं थी। जल, दूध, घी, खूब था। किसी के भी मन में कपट भाव नहीं था। विक्रमादित्य के दरबार में नवरत्न सुशोभित थे। उनकी विद्या के उजास से अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाता था। विक्रमादित्य के दरबार में विद्योत्तमा नाम की विदुषी भी थी, जिसका देश समुद्र के इस किनारे (सम्भवत: दक्षिण) पर था। उसे विक्रम के दरबार में पूरा सम्मान प्राप्त था।

विक्रमादित्य ने एक महायज्ञ किया था। इससे उसका नाम युद्धजीत हुआ। उनकी आभा सूर्य के समान होने के कारण वे विक्रमादित्य कहलाए। उनकी राजध्वजा चारों दिशाओं में फहराती थी। सभी राजा उनका यशगान करते थे। कहीं भी विद्रोह नहीं था। धर्मध्वजा लेकर अश्व देश के आर-पार घूम आया था। उत्तर से दक्षिण तक विक्रमादित्य की राज्य सीमा निर्धारित थी।

सिंहासन पर बैठने पर उनकी मुख आभा ऐसी झलकती थी कि सूरज आश्चर्य में पड़कर एक पलक तक अपनी गति रोक लेता था। उन्होंने आक्रमणकारी शकों को पराजित कर उन्हें बाहर किया था। देश को आतङ्क मुक्त किया। उनमें विष्णु के समान पराक्रम और सूर्य के समान ओज था, इसलिए वे विक्रमादित्य कहलाए।

उनके यशोगान में अप्सराएँ नृत्य करती थीं। देवगण गीत गान करते थे। गंधर्वगण यश बखान करते थे। दुश्मन भी उनके मित्र हो गए थे। माता शिप्रा धन्य हैं। महाराज महाकाल धन्य हैं। उनके दरबार की शोभा अद्भुत-अनुपम थी। आज तक धरती पर युद्ध, नीति और न्यायप्रिय तथा धैर्यवान राजा दूसरा कोई नहीं हुआ। एक तो रामजी हुए या फिर विक्रमादित्य हुए। उन्होंने सदा धर्म की मर्यादा रखी और शुद्ध नीति से राज्य किया।

डॉ. श्रीमती इला घोष ने ''शुकसप्तति में विक्रमादित्य'' आलेख में लिखा है ''विक्रमादित्य इस भुवन तल का एक स्वनामधन्य अन्वर्थ नाम है। विक्रमादित्य अर्थात् आदित्य सदृश तेज, ऊर्जा प्रताप और विक्रम है, जिनका ऐसे विक्रमादित्य।'' इसी पृष्ठ पर आगे वे कहती हैं - ''विक्रम और आदित्य ये दोनों पद वैदिक

वाङ्मय से आए हैं। विक्रम और त्रिविक्रम पद का प्रयोग विष्णु के सन्दर्भ में उनके पादक्षेपों के लिए हुआ है।''

ऋग्वेद के अनुसार विष्णु ने अपने विक्रम (तीन डगों) से समग्र लोकों को नाप लिया था -

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य: अतो धर्माणि धारयन्।

इसी प्रकार विष्णुसहस्रनाम में विक्रम और क्रम भगवान् विष्णु के नाम कहे गए हैं।

इसी प्रकार आदित्यों के लिए भी कहा गया है - धारयंत आदित्यासो जगत्। आदित्य सम्पूर्ण जगत् के धारक हैं। विक्रमादित्य में भी आदित्यों के समान जगत् को धारण करने की क्षमताएँ थीं।

प्रस्तुत लोकगाथा ऋग्वेद और शुकसप्तति के सन्दर्भों की पुष्टि करती है। इस लोकगाथा में महाराजा विक्रमादित्य के उन सब गुणों का बखान किया गया है जो रामायण काल में राम में दर्शाये गए हैं तथा उनके राज्य के प्रशासन के विषय में कहे गए हैं। चारिहुँ चरण धरम जग माही। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं। तथा दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, रामराज नहीं काहुहिं व्यापा॥ वैसा ही सुराज विक्रमादित्य के सुशासन में भी स्थापित था।

विक्रमादित्य की यह 28 सखियों की गाथा विक्रमादित्य को विक्रम और आदित्य अर्थात् विष्णु और सूर्य के समान आभामान एवं सामर्थ्यवान सिद्ध करने में लोक की वाचिक परम्परा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आख्यान है। इसके एक-एक पद पर एक-एक आलेख तैयार किया जा सकता है। अब तक उपलब्ध विक्रमादित्य के लोकाख्यानों, गाथा-गीतों, कथा, किंवदन्तियों में तथा वेताल पच्चीसी और शुकसप्तति आदि कथाओं की तुलना में भी यह लघु गाथांश सर्वोपरि है। मेरा प्रयत्न होगा कि मैं इसके आगे-पीछे के पदों को खोज निकालूँ और इस गाथा को पूरा कर लूँ। यदि ऐसा हो सका तब मैं अपना श्रम सार्थक मानूँगा।

सन्दर्भ

1 सौजन्य श्री देवीसिंहजी परमार 'देव' ग्राम कंवला तह. भानपुरा जि. मन्दसौर म.प्र., 27 जून, 1974 भानपुरा
2 विक्रमार्क वर्ष 2069, पृ. 21
3 विक्रमार्क वर्ष 2069, पृ. 22
4 ऋग्वेद 2-2
5 शुकसप्तति कथा 5, श्लोक 48-49
6 तुलसीकृत रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा क्र. 20 के निरन्तर में चौपाई

महाराजा विक्रमादित्य और लोक स्वीकृति

जीवनसिंह ठाकुर

महाराजा विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे, इससे बड़ा सच यह है कि वे लोकस्वीकृति ''राजा''और लोकनायकत्व से भी श्रीसम्पन्न हैं। जिस प्रकार राम अयोध्या के राजा होकर भी भारतीय जन-मानस में 'लोकनायक' थे। किसी क्षेत्र विशेष पर शासन करते हुए नैतिक मूल्यों, लोक-कल्याण, व्यापक दृष्टि वाले शासक राज्य की सीमा से इतर वृहत्तर क्षेत्र में 'सांस्कृतिक नेतृत्व' करते हैं, जैसा राम, कृष्ण जैसे चरित्रों में स्पष्ट है। विक्रमादित्य भारतीय जन-जीवन में एक विलक्षण 'चरितनायक' हैं। यह उन पर लिखे साहित्य से स्पष्ट है। साहित्य एक ऐसी सामाजिक, ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जिसमें इतिहास, समय, सत्ता, व्यक्ति, मूल्यों का कड़ा परीक्षण होता है। तब ही साहित्य में स्थान पाता है। 'विक्रमादित्य' साहित्य की कसौटी पर खरे उतरे हैं। नाटक, कहानियाँ, बारताएँ, किंवदन्तियाँ आदि विक्रमादित्य पर रची गई हैं। यह विक्रमादित्य की लोकव्याप्ति दर्शाता है, वहीं उनके अस्तित्व के ठोस प्रमाण भी देता है।

ईस्वी सन् के पश्चात् भारत के सम्राटों ने अपने नाम के साथ 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करना इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि कोई व्यक्ति 'विक्रमादित्य' रहा है। तक्षशिला ताम्रपत्र में 57-58 वर्ष पूर्व संवत् प्रारम्भ (ईस्वी सन् से 57 वर्ष पूर्व) होने का स्पष्ट सङ्केत है। नि:सन्देह वह विक्रम संवत् ही है।

प्रख्यात विद्वान् डॉ. भगवतशरण उपाध्याय जी ने लिखा है ''जिन विद्वानों ने इस प्रश्न को उठाया है, उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि प्रथम शती ई.पू. का समय अत्यन्त डावाँ-डोल और उथल-पुथल का था। सम्भवत: ऐतिहासिक सामग्री बिखर गई हो जिस पर हम अस्तित्व का आधार रख सकते, परन्तु साथ ही हमें यह बात न भूलनी चाहिए कि जनश्रुति के साथ-साथ ही ऐतिहासिक अनुश्रुति भी प्रथम शती ई.पू. में किसी विक्रमादित्य के होने के पक्ष में है। डॉक्टर स्टेन कोनों तथा डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इस काल में होने वाले ''विक्रमादित्य'' को स्वीकार किया है।''

जहाँ तक साहित्यिक अनुश्रुति का प्रश्न है, वह पूरी तरह विक्रमादित्य का समर्थन करती है। साथ ही जैन साहित्य जैसे पट्टावलि, जिनसेन गाथा के साथ विक्रमादित्य के प्रथम शती ई.पू. में होने का प्रमाण संस्कृत और प्राकृत साहित्य में स्पष्ट रूप से मिलता है। प्राकृत ग्रन्थ 'गाथा-सप्तशती' में राजा विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है।

विक्रमादित्य भारतीय जन-मानस में गहरे तक पैठे हुए हैं। इस तरह की पैठ अन्य किसी राजा को नहीं है। आम से खास तक सभी राजा विक्रमादित्य को 'अपना राजा' और अपना भाई-बन्धु भी मानते हैं, क्योंकि आम बोल-चाल में विक्रमादित्य के उदाहरण दिये जाते हैं । कई बार सभा या किसी वाद-विवाद

प्रतियोगिता में या अन्य किसी समारोह में 'अध्यक्ष' के लिए सम्बोधित किया जाता है ''विक्रमादित्य की तरह न्याय के सिंहासन पर विराजमान अध्यक्ष महोदय'' जब ''विक्रमादित्य की तरह'' बोला जाता है, इसके मायने वह पूरी परम्परा, समस्त जीवन-मूल्य और सत्य के आचरण से अर्थ होता है। वह कुर्सी पर बैठे व्यक्ति को 'सत्य, मर्यादा, नैतिक मूल्यों' की गहरी सामाजिकता की प्रतिबद्धता की याद दिलाता है। सदन को प्रतिबद्ध करते हुए 'विवेक' की रचना शीलता की अपेक्षा करता है।

'विक्रमादित्य' व्यक्ति से होते हुए समग्र संस्कृति में आत्मतत्त्व की तरह रच-बस जाते हैं। पिछले दो हजार साल से ज्यादा कोई 'राजा' बिना किसी दरबार, सत्ता, प्रचार के सल्तनतकाल, गुलामकाल, तुगलक, मुगल, अँग्रेज़ों के काल को फलाँग कर शाश्वत बना हुआ है। यह उसकी सांस्कृतिक शक्ति और अमरता का प्रमाण है, उसकी जीवन्तता का राज़ है।

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय लिखते हैं ''प्रथम शती ई.पू. वाले विक्रमादित्य के जीवनकाल से दो सदियों के भीतर होने वाले दो महापुरुषों (हाल और गुणाढ्य) के ग्रन्थों में उस राजा का उल्लेख मिलता है, उसके ऐतिहासिक अस्तित्व में किसी प्रकार का सन्देह करना अवैज्ञानिक होगा। विशेषकर जब हमारी जैनादि अन्य अनुश्रुतियों का इस सम्बन्ध में सर्वथा ऐक्य है।''

विक्रमादित्य का प्रथम द्वितीय शती के ग्रन्थों में विक्रम संवत् तथा 'विक्रमादित्य' पूरी प्रामाणिकता से उल्लेख है, क्योंकि ई.पू. प्रथम शती में शकों के भीषण हमले, आक्रमण को विफल करते हुए निर्णायक विजय हासिल करने के 'स्मारक' के रूप में भी 'विक्रम संवत्' चलाया गया होगा। यह नि: सन्देह स्वीकार्य तथ्य है कि वह 'विक्रमादित्य' का नेतृत्व ही होगा, जिसने मालव जन मेदिनी, योद्धाओं के 'विक्रम', 'पराक्रम' से विदेशी आक्रान्ताओं को निर्णायक पराजय दी थी।

विक्रमादित्य की लोकप्रियता तथा इतिहास, संस्कृति और साहित्य में उपस्थिति इतनी प्रबल और प्रभावी है कि ''विक्रम संवत् का प्रचार भारतवर्ष के वणिक् समाज के द्वारा संसार के कोने-कोने में पाया जाता है...चीन, अरब, अफ्रीका, यूरोप, जापान या अमेरिका, सब ज़गह भारतवर्ष के व्यापारी और ज्योतिषी सदैव विक्रम संवत् का ही प्रयोग करते हैं।'' एक और बढ़िया प्रमाण रत्ननंदी अपने ''भद्रबाहुचरित'' में लिखते हैं कि 'विक्रम संवत्' उसी तिथि से प्रारम्भ हुआ जिस दिन अमितगति के शब्दों में विक्रम 'देवों के पूत निवास' को प्रस्थान कर गये।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता, उनकी लोक में उपस्थिति साहित्य की विधाएँ, कहानियाँ, काव्य, महाकाव्य, वार्ता, आख्यान, लोककथाओं, लोक गायन में प्रभावी रूप से उपस्थित है। अत: 'विक्रमादित्य' पर किन्तु-परन्तु की बजाए उनके युग के महत्त्व और समय को समझे। संस्कृति, समाज, कला, मूल्यों के विकास में उनके योगदान पर सर्वथा ध्यान देने की आवश्यकता है।

महाराजा विक्रमादित्य के दरबार में नौ रत्नों की ख्याति अपरिमित है। ये नौ रत्न अन्य के साथ क्यों नहीं दिखाई देते? बात स्पष्ट है कि ये नौ रत्न सिर्फ और सिर्फ विक्रम के सन्दर्भ में ही गिनाए तथा रेखाङ्कित किये जाते हैं। ये नौ रत्न हैं - (1) धन्वन्तरि (2) क्षपणक (3) अमरसिंह (अमरदेव) (4) शङ्कु (5) वेतालभट्ट (6) घटखर्पर (7) कालिदास (8) वराहमिहिर (9) वररुचि।

विक्रमादित्य की सभा में नौ सभासद भी थे - (1) शङ्कु (2) वररुचि (3) मणि (4) अङ्गुदत्त (5) जिष्णु (6) त्रिलोचन (7) हरि (8) घटखर्पर (9) अमरसिंह।

विक्रमादित्य के ऐतिहासिक, पौराणिक, साहित्यिक, लोक-साहित्य में प्रमाणों की असङ्ख्य उपस्थिति है। पुरातात्त्विक प्रमाण भी अधिसङ्ख्य हैं। धार के समीप माण्डव में राम मन्दिर में राम की पाषाण मूर्ति के चरणों में विक्रम संवत् 1057 अङ्कित है। गुना जिले के "पंधोली ग्राम" में मन्दिर समूह है। यहाँ प्रस्तर पर वि.सं. 1000 अङ्कित है। बदनावर से प्राप्त 'देवी चतुर्भुजी' अश्व पर आसीन है जो संवत् 1229 (ई.1172) में शांतिनाथ मन्दिर में स्थापित की गई थी।

मोडासा ताम्रपत्र में वि.सं. 1067, हर्ष का बाँसवाड़ा ताम्रपत्र वि.सं. 1076 (1020 ई.), भोज का देपालपुर ताम्रपत्र विक्रम संवत् 1079 (1023 ई.), देवास का अपूर्ण ताम्रपत्र (नरवर्मन्) संवत् 1167 (1110 ई.) स्पष्ट अङ्कित है। तिलकवाड़ा से प्राप्त भोजदेव के ताम्रपत्र में वि.सं. 1103 (ई.1046) मिलता है।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिक, लोकसत्ता, साहित्य में भौतिक, नैतिक उपस्थिति एक प्रखर सत्य है। विक्रमादित्य की लोकछबि की उपस्थिति भारत की सभी भाषाओं, बोलियों और साहित्य में है। मलयालम् जैसी समृद्ध और संस्कृतनिष्ठ, सु-संस्कृत भाषा में विक्रमादित्य को लेकर साहित्य रचा गया है। मलियाली के प्रख्यात कवि, साहित्यकार, विचारक श्री ओ.एन.वी. कुरूप ने 'उज्जयिनी' महाकाव्य की रचना की है। इसे दीर्घकाव्य कहा गया है। इस दीर्घकाव्य के अब तक छह संस्करण मलयालम् में प्रकाशित हो चुके हैं। यह इसकी लोकप्रियता तथा महत्त्व का श्रेष्ठ प्रमाण है। इसमें विक्रमादित्य को उज्जयिनी का 'राजा' कहा गया है तथा उनके कार्यकाल की भव्यता का सुन्दर चित्रण है। इसमें कवि कुरूप कालिदास की आँखों से 'यात्रा' करता है।

कवि 'रंगोत्सव का ध्वजारोहण' अध्याय में लिखते हैं -

विक्रम नरेश के हृदय मध्य यह हर्ष वर्षा क्यों ?
सामने खड़ी दूसरी पुत्री मालव की
कर रही समर्पित यह पद क्या उन्हीं को ?

विक्रमादित्य का साहित्यिक, सांस्कृतिक, पुरातात्त्विक लोक-साहित्य, बोलियों और गायन में शाश्वत नैतिक, भौतिक, तथ्यात्मकता ने उसे इतना प्रखर और यथार्थमय सिद्ध किया है कि जो भी विक्रम को बौद्धिक चालाकी से ख़ारिज करने का प्रयास करते हैं, विक्रमादित्य उस विवाद, चालाकी को ध्वस्त करते हुए अपने 'विक्रम' पराक्रम से पुनः-पुनः जीवन्त हो उठते हैं।

सन्दर्भ

1 विक्रम स्मृति ग्रन्थ, संवत् 2009 विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता, पृ. 29, पेरा III, डॉ. लक्ष्मण स्वरूप, M.A. Ph.D.

2 डॉ. लक्ष्मण स्वरूप विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता, पृ. 25, पेरा II (विक्रम स्मृति ग्रन्थ संवत् 2009) Journal of the Royal Asiatic Society, 1914

3 डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ''विक्रम संवत्'', पृ. 17, विक्रम स्मृति ग्रन्थ वि.सं. 2009 (1942 ई.) "Problems of Saka and Satvahana History" Journal of Bihar and Orisa, Research Society, 1930

4 'विक्रम संवत्' विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ. 17, संवत् 2001

5 वही, पृ. 17

6 'विक्रम संवत्' विक्रम स्मृति ग्रन्थ, संवत् 2001, डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, पृ. 17, संवाहण सुहरस तोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं। चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा। गाथा 464 वेबर का संस्करण (सन्दर्भ : डॉ. भगवतशरण उपाध्याय)

7 वही, पृ. 18, पेराग्राफ II, डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

8 श्री जगनलाल गुप्त : ''विक्रम संवत् और उसके संस्थापक'', विक्रम स्मृति ग्रन्थ, 2001, वि.सं., पृ. 69

9 'विक्रम संवत् प्रादुर्भाव' डॉ. आ.ने. उपाध्ये, कोल्हापुर (महा.) पृ. 67
मृते विक्रमभूपालेसप्तविंशतिसंयुते।
दशपञ्च शतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम्॥ (157)

10 श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी : श्री विक्रम के नवरत्न, पृ. 257, अमरसिंह (अमरदेव कोषकार)
अमरसिंह को 'गया' में प्राप्त शिलालेख में विक्रमादित्य के नवरत्नों में से प्रसिद्ध पण्डित अमरदेव की प्रशंसा की गई है।

11 ''पूर्वमध्यकालीन मालवा में धर्म'' डॉ. सोदानसिंह मकवाणा, अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर, उज्जैन, 2008
ग्वालियर पुरातात्त्विक रिपोर्ट 1927-28, पृ. 9

12 डॉ. सोदानसिंह मकवाणा, वही, पृ. 157

13 'म.प्र. में जैन धर्म का विकास' पृ. 157 (मधुलिका) वही, पृ. 228

14 विक्रम स्मृति ग्रन्थ अमरचन्द मित्तल, संवत् 2001, पृ.14

15 'उज्जयिनी' ओ.एन.बी. कुरूप (दीर्घकाव्य) अनुवादक डॉ. विश्वनाथ अय्यर, साहित्य भण्डार, 50, चाहचन्द, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1998

16 उपर्युक्त VIII वाँ अध्याय, पृ. 116-117

रुनीजा मुद्रानिधि से प्राप्त गुप्त सम्राटों की स्वर्णमुद्राएँ

डॉ. जगन्नाथ दुबे

उज्जैन जिले की बड़नगर तहसील के अन्तर्गत रुनीजा नामक ग्राम के समीप स्थित एक टीले से मिट्टी के लिये खुदाई करते समय एक कुम्भकार को सन् 1980 में एक मिट्टी के पात्र में नौ स्वर्ण मुद्राएँ व एक सोने की नथ प्राप्त हुई थी। यह पुरातत्त्व सामग्री तत्कालीन एस.डी.ओ. महोदय, बड़नगर ने उज्जैन जिले के कोषागार में जमा करा दी थी। तत्पश्चात् ये नौ स्वर्ण मुद्राएँ केन्द्रीय पुरातत्त्व संग्रहालय, इन्दौर के उपसञ्चालक महोदय डॉ. प्रकाश माथुर को दिनांक 29.01.2010 को सुपुर्द की गई।

रुनीजा से प्राप्त मुद्रानिधि में समुद्रगुप्त की तीन दण्डधर व एक धनुर्धर प्रकार की स्वर्ण मुद्राएँ तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की चार धनुर्धर प्रकार व एक सिंहनिहन्ता प्रकार की स्वर्ण मुद्रा सम्मिलित है। इन स्वर्ण मुद्राओं का वर्णन निम्न प्रकार से है -

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के शासनकाल (335-375 ई.) की दो प्रकार की स्वर्ण मुद्राएँ यथा दण्डधर प्रकार और धनुर्धर प्रकार सम्मिलित है।

समुद्रगुप्त शासक चन्द्रगुप्त प्रथम का सुयोग्य उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। इसका जीवन प्राय: सङ्घर्षों में ही व्यतीत हुआ। वस्तुत: सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने ही समरशतों में विजय का वितान करके विक्रम के सत्र का प्रारम्भ किया। इसकी दण्डधर अथवा उत्पताक प्रकार की स्वर्ण मुद्राओं पर अङ्कित लेख में उसकी समरशतों का वर्णन है। इस प्रमाण की पुष्टि उसकी प्रयाग-प्रशस्ति से होती है 'तस्य-विविध-समर-शतावरणदक्षस्य। (अर्थात् जो विभिन्न प्रकार के सैकड़ों रण-कौशल में कुशल हैं।)

रुनीजा मुद्रानिधि से प्राप्त समुद्रगुप्त की तीन दण्डधर अथवा उत्पताक प्रकार की स्वर्ण मुद्राओं का वर्णन निम्नलिखित है -

1. दण्डधर प्रकार

पुरोभाग - प्रभा मण्डलयुक्त वामाभिमुख खड़ा राजा, सिर पर चिपकी टोपी, कोट व पतलून पहने दिखाई दे रहा है। उसके बाँयें हाथ में राजदण्ड और दाहिने हाथ से वह अग्निकुण्ड में आहुति दे रहा है। राजदण्ड और अन्य कतिपय विशेषताओं के आधार पर कुछ विद्वानों की दृष्टि में समुद्र की यह प्रारम्भिक मुद्रा है, जो प्राय: कुषाण सिक्कों की नक़ल है। राजा के बाँये हाथ के नीचे लम्बवत् मुद्रालेख 'समुद्र' तथा दण्ड के बाहर गुप्त अङ्कित है। इस प्रकार का लेख बहुधा कम मुद्राओं पर प्रयुक्त हुआ है। उपगीति छन्द में

वर्तुलाकार मुद्रालेख (समरशत वितत विजयो) जित रिपुरजितो दिवं जयति' जिसका आशय है सर्वत्र विजयी राजा, जिसने सैकड़ों युद्धों में सफलता प्राप्त की और शत्रु को पराजित किया, स्वर्ग श्री प्राप्त करता है।

वामभाग - गोलाकार चटाई पर पैर रखे प्रभामण्डलयुक्त सिंहासनासीन लक्ष्मी उसके दाहिने हाथ में पाश और बाँयें हाथ में निधि शृङ्ग दिखाई देता है। दाहिनी ओर स्थित एक राजदण्ड के समीप मुद्रालेख 'पराक्रम' अङ्कित है।

2. दण्डधर प्रकार

उपर्युक्तक्रमाङ्क 1 में निर्दिष्ट इस मुद्रा में राजा के बाँये हाथ के नीचे लम्बवत् मुद्रा लेख 'समुद्र' तथा वर्तुलाकार लेख बाँईं ओर प्रारम्भ में 'समरश....केवल आंशिक रूप में है। वामभाग प्रभामण्डलयुक्त सिंहासनासीन लक्ष्मी, दाहिने हाथ में पाश तथा बाँया हाथ कटि पर स्थित है। दाहिनी ओर किनारे पर वर्तुलाकार अलङ्कृत बिन्दुओं के समीप मुद्रालेख 'पराक्रम' अङ्कित है।

3. दण्डधर प्रकार

पुरोभाग उपर्युक्त क्रमाङ्क 1 में निर्दिष्ट राजा का वर्णन। इस मुद्रा पर राजा की बाँयीं भुजा के नीचे लम्बवत् मुद्रालेख 'समुद्र' अङ्कित है। वर्तुलाकार लेख उत्कीर्ण नहीं है।

4. धनुर्धर प्रकार

पुरोभाग - प्रभामण्डलयुक्त राजा वामाभिमुख खड़ा है। वस्त्र के रूप में वह चिपकी टोपी, कोट तथा पतलून पहने दिखाई देता है। राजा के बाँये हाथ में धनुष और दाहिने हाथ में बाण है। दाहिनी ओर गरुड़ध्वज अङ्कित है। यह मुद्रा लेख रहित है।

वामभाग - चटाई पर आसीन लक्ष्मी के दाहिने हाथ में पाश और बाँयें हाथ में निधि शृङ्ग है। दाहिनी ओर मुद्रालेख 'पराक्रम' अङ्कित है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की रुनीजा मुद्रा-निधि से धनुर्धर प्रकार की चार स्वर्ण मुद्राएँ और सिंह-निहन्ता प्रकार की एक स्वर्ण मुद्रा मिली है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। उसने अपने पौरुष पराक्रम और नीति-चातुर्य्य से गुप्तसत्ता को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया। उसने वैवाहिक सम्बन्धों से अनेक सशक्त शासकों को मित्र बनाया और अनेक को अपने रण पराक्रम से अभिभूत कर अपने अधीन कर लिया तथा अधिगत साम्राज्य का सार्वभौम शासक के रूप में सुदीर्घ काल 375-415 ई. सन् तक उपभोग किया। उसने आठ प्रकार की स्वर्णमुद्राएँ अपने शासनकाल में प्रचलित कीं। इन आठ प्रकार की स्वर्ण मुद्राओं में से रुनीजा मुद्रानिधि में उसकी दो प्रकार की 1. धनुर्धर प्रकार व 2. सिंह-निहन्ता वाली स्वर्ण मुद्राएँ मिली हैं, उनका वर्णन इस प्रकार है

1. धनुर्धर प्रकार

पुरोभाग - आभूषणों से अलङ्कृत प्रभामण्डलयुक्त राजा वामाभिमुख खड़ा है। उसके बाँयें हाथ में धनुष और दाहिने हाथ में बाण है। सामने गरुड़ध्वज बाँयीं बाँह के नीचे लम्बवत् अङ्कित मुद्रालेख 'चन्द्र', वर्तुलाकार ब्राह्मीलेख अंशमात्र प्रभामण्डल के समीप 'राजा श्रीचन्द्र' अङ्कित है।

वामभाग - प्रभामण्डलयुक्त कमलासना लक्ष्मी, दाहिने हाथ में पाश तथा बाँयें हाथ में निधिशृङ्ग धारण किये हुए, मुद्रालेख 'श्री विक्रम' अङ्कित है।

2. धनुर्धर प्रकार

पुरोभाग - उपर्युक्त क्रमांक 1 में निर्दिष्ट सिर के समीप वाली ब्राह्मी लिपि में लेख 'राजश्रीचन्द्र' है।

वामभाग - कमलासना लक्ष्मी, दाहिने हाथ में पाश तथा बायाँ हाथ कटि पर स्थित है। निम्न भाग में मुद्रा के किनारे पर बिन्दु अलङ्करण और दाहिनी ओर ब्राह्मीलिपि में लेख 'श्रीविक्रम' अङ्कित है।

3. धनुर्धर प्रकार

पुरोभाग - उपर्युक्त क्रमाङ्क 1 में निर्दिष्ट । सिर के समीप दाहिनी ओर ब्राह्मी लिपि में लेख '(रा)जंधिरा'(ज) अङ्कित है।

वामभाग - कमलासना लक्ष्मी दाहिने हाथ में पाश तथा बाँयें हाथ में निधिशृङ्ग धारण किये, लेख रहित है।

4. धनुर्धर प्रकार

पुरोभाग - उपर्युक्त क्रमाङ्क 1 में निर्दिष्ट राजा के सिर के समीप दाहिनी ओर ब्राह्मलिपि में लेख (म) हाराजा धिराज' अङ्कित है।

वामभाग मोढ़े पर आसीन प्रभामण्डलयुक्त लक्ष्मी, दाहिने हाथ में पाश और बाँया हाथ कटि पर स्थित है। लेख 'श्रीविक्रमः' अङ्कित है।

सिंह-निहन्ता प्रकार पाँच

पुरोभाग - छोटी धोती तथा पट्टबन्ध धारण किये, सिर पर चिपकी टोपी पहने राजा दाहिनी ओर खड़ा है । बाँयें हाथ में धनुष तथा दाहिने हाथ से प्रत्यञ्चा चढ़ा रहा है। वह सिंह के अत्यन्त निकट से शरसन्धान कर रहा है। सिर के समीप लेख का कुछ अंश 'सर चन्द्रगुप्त' अङ्कित है।

वामभाग - वामाभिमुख सिंह पर बैठी प्रभामण्डलयुक्त देवी के दाहिने हाथ में पाश तथा बाँयें हाथ में हाथ में कमल धारण किये हुए हैं। मुद्रालेख 'सिंह विक्रम' उत्कीर्ण है। इस सिंह-निहन्ता प्रकार की एक अन्य अभिनव स्वर्ण मुद्रा (लखनऊ सङ्ग्रहालय में संरक्षित) में सामने की ओर से दाहिने हाथ में तलवार लिये हुए (उद्यत-कृपाण-पाणि) सम्राट् चन्द्रगुप्त सिंह का वध कर रहे हैं । सिंह की तरह प्रबुद्ध सत्त्व वाले(सिंहोरूसत्व) सम्राट् सिंह का वध कर रहे हैं । इस प्रकार की स्वर्ण-मुद्राएँ पगारा मुद्रा-निधि से भी मिली है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की एक काँसे की दुर्लभ मुद्रा डॉ. वि.श्री. वाकणकरजी को गढ़कालिका क्षेत्र, उज्जैन से प्राप्त हुई थी, उसका वर्णन इस प्रकार है -

पुरोभाग - वस्त्राभूषण धारण किये राजा बाँयें खड़ा है। उसके बाँयें हाथ में धनुष व दाहिने हाथ में बाण है। सामने गरुड़ध्वज, बाँयें हाथ के नीचे लम्बवत् मुद्रालेख 'चन्द्र' अङ्कित है।

पृष्ठभाग - सम्मुखाभिमुख बैठी हुई कमलासना लक्ष्मी। उसके दाहिने हाथ में कमलनाल तथा बाँया हाथ कमर पर स्थित है। निम्न भाग में बिन्दुओं का अलङ्करण है। मुद्रालेख 'श्री विक्रम' अङ्कित है। चन्द्रगुप्त

द्वितीय की काँसे की यह दुर्लभ मुद्रा है, क्योंकि अभी तक इस धातु की एकमात्र यह मुद्रा गढ़कालिका क्षेत्र, उज्जैन से प्राप्त हुई है।

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओं पर विरुदों की विशेषता 'विक्रम' उपाधि है। श्री विक्रम, विक्रमादित्य, सिंह-विक्रम व अजित विक्रम इन विरुदों में विक्रम की ध्वनि गूँजती है।

समुद्रगुप्त की चार एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय की पाँच स्वर्ण मुद्राओं के छायाचित्र भूतपूर्व उप-सञ्चालक डॉ.प्रकाशचन्द्र माथुर के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं।

परमार वंश के शासक भोजदेव की मुद्राएँ

डॉ. जगन्नाथ दुबे

भारत में सर्वाधिक विख्यात और लोकप्रिय शासकों में भोज की गणना की जाती है। भोज का शासनकाल (1000 से1055 ई.) अर्द्धशताब्दी से भी अधिक रहा। भोज अपने समय का एक पराक्रमी योद्धा था। उदयादित्य की उदयपुर प्रशस्ति में भोज की विजयों और साम्राज्य का विस्तृत उल्लेख है। उसने चेदिकलचुरि नरेश गाङ्गेयदेव, आदि नगर के स्वामी इन्द्ररथ, गुजरात के चालुक्य शासक भीम, कल्याणी के चालुक्य राजा जयसिंह, लाट के स्वामी वत्सराज और कान्यकुब्ज के राजा राज्यपाल इन सभी शासकों को युद्ध में हराया। तुरुष्क शासक महमूद गज़नवी और मुस्लिम सेनापति तोग्गल आदि का भोज की सेना से सामना हुआ। इन विजयों के फलस्वरूप उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। भोज की ख्याति उसके युद्धों में विजय के कारण ही नहीं, वरन् उसके विद्यानुराग, उसके प्रकाण्ड पाण्डित्य, विद्या और साहित्य के संवर्धन के लिए किये गये उल्लेखनीय कार्यों से भी है।

राजा भोज के शिलालेख और ताम्रपत्र तो अनेक मिले हैं, परन्तु मुद्राएँ अब प्रथम बार मिली हैं। अभी हाल में 'श्री भोजदेव' नामाङ्कित शिवलिङ्ग प्रकार की छह चाँदी की मुद्राएँ और दो लक्ष्मी प्रकार की चाँदी की मुद्राएँ (सम्प्रति अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर में संरक्षित) प्रकाश में आयी हैं। इन मुद्राओं का वर्णन निम्नरूपेण है -

1. शिवलिङ्ग प्रकार की चाँदी की मुद्राएँ

वृत्ताकार, माप .8 से.मी., वज़न 0.0.52 मिलीग्राम

पुरोभाग - मुद्रा के मध्य भाग में जलाधारी के मध्य स्थित शिवलिङ्ग, जलाधारी के निम्न भाग में दाहिने सिरे पर एक पर्ण का अङ्कन। जलाधारी के ऊपरी भाग में मुद्रा के किनारे पर वृत्तायत नागरी लेख 'श्री भोज दे(व)' अङ्कित है।

वामभाग - ध्वज एवं वृक्षाङ्कन युक्त छह बिन्दुओं का अङ्कन तथा एक नागरी अक्षर 'थ' दाहिनी ओर अङ्कित है।

2. वृत्ताकार, माप .7 से.मी., वज़न 0.048 मिलीग्राम।

पुरोभाग - मुद्रा क्रमाङ्क 1 सदृश।

वामभाग- दक्षिणाभिमुख आगे का दाहिना पञ्जा ऊपर उठाये दहाड़ता हुआ सिंह खड़ा है। उसकी पूँछ ऊपर उठी हुई है।

3. वृत्ताकार, माप .7 से.मी., वज़न 0.0.52 मिलीग्राम।

पुरोभाग - मुद्रा के मध्य भाग में जलाधारी में स्थित शिवलिङ्ग, जलाधारी के निम्न भाग में दोनों सिरों से निसृत एक-एक पत्र तथा जलाधारी के ऊर्ध्व भाग पर मुद्रा के किनारे वृत्तायत नागरी लेख 'श्री भोजदे (व) व अक्षर किनारे से बाहर हो गया है।

वामभाग - बिन्दु वेष्ठित अलङ्करण के मध्य दाहिनी ओर मुँह किये हुए सिंह खड़ा है।

4. वृत्ताकार, माप .8 से.मी., वज़न 0.042 मिलीग्राम।

पुरोभाग - मुद्रा क्रमाङ्क 1 सदृश

वामभाग - दाहिनी ओर खड़ा हुआ सिंह (अस्पष्ट दिखाई देता है।)

5. वृत्ताकार माप .7 से.मी., वज़न 0.0.48 मिलीग्राम।

पुरोभाग - मुद्रा के मध्य में जलाधारी स्थित शिवलिङ्ग। जलाधारी के ऊर्ध्वभाग पर मुद्रा के किनारे पर अस्पष्ट नागरी लेख श्री...भ.....अङ्कित है।

वामभाग बिन्दुओं सें निर्मित सिंह दाहिनी ओर खड़ा है।

6. वृत्ताकार माप .7 से.मी., वज़न 0.042 मिलीग्राम।

पुरोभाग - मुद्रा के मध्य जलाधारी में स्थित शिवलिङ्ग जलाधारी के निम्न भाग में दोनों सिरों से निःसृत एक-एक पर्ण की। जलाधारी के ऊर्ध्व भाग पर अङ्कित वृत्तायत नागरी लेख श्री भोजदे(व) व मुद्रा के किनारे से बाहर हो गया है।

वामभाग - बिन्दुओं से निर्मित सिंह दाहिनी ओर खड़ा है।

भोजदेव के ताम्रपत्र अभिलेखों का प्रारम्भ प्राय: शिव स्तुति के साथ हुआ है। वह इस प्रकार है ओम इन भगवान् शङ्कर की जय हो जो सृष्टि के लिए अपने शीश पर संसार के बीज की आकृति-सी चन्द्र लेखा को धारण किये हैं। कामदेव के शत्रु भगवान् शङ्कर की जटाएँ आपका सदा कल्याण करे, जो कल्पान्त में अनवरत चमकती विद्युत् कांति-सी पीले वर्ण की है। उज्जयिनी से प्राप्त दो भग्न प्रस्तर अभिलेखों में भी महाकाल की अभ्यर्चना का उल्लेख है।

भोज परम शैवोपासक था। उसके द्वारा शिव मन्दिरों के निर्माण का वर्णन भी भोज प्रशस्ति श्लोक 240 में आया है। उसमें केदारनाथ, रामेश्वर, मुण्डीर, सोमनाथ मन्दिर, महाकाल नामक रुद्र के मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है। इस कथन की पुष्टि उदयादित्य की उदयपुर प्रशस्ति से भी होती है। उदयपुर प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि भोज ने केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, मुंडीर तथा महाकाल नामक रुद्र के मन्दिरों से धरती व्याप्त कर दी थी। भोज ने शैवधर्म (शैव तत्त्वागम) के सिद्धान्तों पर 'तत्त्वप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना भी की थी।

शिवलिङ्ग प्रकार की चाँदी की मुद्राओं के अतिरिक्त भोज की लक्ष्मी प्रकार की दो चाँदी की मुद्राएँ भी सम्प्रति अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर में सङ्ग्रहीत हैं। उनका वर्णन इस प्रकार है ये मुद्राएँ वृत्ताकार हैं, माप 2 से.मी. तथा वज़न 3.300 ग्राम है।

पुरोभाग - द्विहस्ता पद्मासना लक्ष्मी का अङ्कन है।

वामभाग - नागरीलिपि में दो पंक्तियों में। श्री भोज और 2 देव नामाङ्कन तथा देव के समीप प्रमुख रूप से नन्दी पद का अङ्कन है।

भोजरचित चम्पू-रामायण के प्रारम्भ में लक्ष्मी की वन्दना है। शृङ्गारमञ्जरी कथा में यह वर्णन है कि विविध पुरुषों में अनुरक्त राजलक्ष्मी को भोज ने एक स्थान पर बाँध दिया।

अब प्रश्न यह है कि लक्ष्मी प्रकार की इन मुद्राओं को भोज ने कब जारी किया ? भोज ने अपने द्वारा प्रसारित दो ताम्रपट्टिकाओं प्रथम बाँसवाड़ा (राजस्थान) ताम्रपट्ट वि.स. 1076 माघ सुदी पञ्चमी (अर्थात् 3 जनवरी, 1020) को कोङ्कण विजयपर्व पर प्रसारित किया। द्वितीय ताम्रपट्ट बेटमा (मालवा) से उसी संवत् 1076 भाद्रपद पूर्णिमा (अर्थात् सितम्बर 1020 ई. 7 माह पश्चात्) को कोङ्कणग्रहण विजय पर्व के अवसर पर प्रसारित किया।

भोज ने अपनी राजसत्ता स्थापित करने या कोङ्कण प्रदेश तक अपने राज्य विस्तार के उपलक्ष में ये लक्ष्मी प्रकार की मुद्राएँ सम्भवत: जारी की हों। भोज की लक्ष्मी प्रकार की मुद्राओं की उपलब्धि के पूर्व इतिहासकारों ने यह मत प्रतिपादित किया था कि पूर्व मध्यकालीन भारत में सर्वप्रथम चेदि-कलचुरि शासक गाङ्गेयदेव (1015 से1040 तक) ने सोने की लक्ष्मी प्रकार की मुद्राएँ जारी कीं तथा उसके समकालीन और परवर्त्ती राजवंश के शासकों ने उनका अनुकरण किया। वर्तमान में भोज की लक्ष्मी प्रकार की मुद्राओं की प्राप्ति से यह प्रमाणित होता है कि सर्वप्रथम भोज ने लक्ष्मी प्रकार की मुद्राएँ जारी की तथा अन्य शासकों ने उनका अनुकरण किया।

भोज के शासनकालीन प्रचलित मुद्राओं का वर्णन भोज के तिथि विहीन कालवण (गुजरात) से प्रसारित द्वितीय ताम्रपट्ट पंक्ति 23 में वर्णित ताम्र-मुद्राओं से ज्ञात होता है। उसमें दो तेल घाणी, चौदह दुकानों और चौदह द्रम्म मुद्राओं का उल्लेख है। भोज विरचित चारु-चर्या नामक ग्रन्थ में निष्क और पण मुद्रा का वर्णन है। शृङ्गारमञ्जरी कथा में भी तत्कालीन प्रचलित मुद्राओं का वर्णन तीन विभिन्न कथानकों में दिया गया है। वे इस प्रकार है -

1. सूरधर्म-कथानिका - उज्जयिनी नगर व राजा विक्रमादित्य का शासन देवदत्ता वैभव सम्पन्न दारिका तथा ब्राह्मण के रत्न की कथा में ब्राह्मण ने रत्न को अपनी जङ्घा में छिपाकर रखा था। देवदत्ता ने उसको धक्का देकर वह रत्न निकाल लिया। निकलते हुए उसके सम्बल माँगने पर दो सुवर्ण पल देकर उसे भगा दिया।

2. देवदत्ता कथानिका उज्जैन के राजा विक्रमादित्य का शासन गणिका देवदत्ता राजा ने महामात्य को आदेश दिया कि प्रधान हाथी को छोड़ द्वितीय हाथी देवदत्ता को दिया जाये तथा चार करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ, अमूल्य आभरण तथा वस्त्र दिये जायें।

3. विदिशा - भाइलस्वामिपुर में देवालय की नर्तनपाली पूर्ण करने लावण्य सुन्दरी आयी और उसी समय रत्नदत्त भी देव दर्शन के लिये वहाँ पहुँचा। वह उसके साथ रात व्यतीत कर प्रात: चादर में पाँच सौ सुवर्ण मुद्राएँ वहीं रख द्यूतशाला जाकर धनिकों के साथ पाँसे खेलने लगा। उसे ढूँढती हुई नकुलिका पुन: पहुँची, तब तक रत्नदत्त पचास हजार द्रम्म (दाम) जीत चुका था, जिसमें से उसने दस हजार वहीं छोड़े और चार सहस्र वकुलिका को तथा सोलह-सहस्र लावण्य सुन्दरी को दिये।

इन तीनों कथानकों में स्वर्ण-मुद्राओं, सुवर्ण पल और द्रम्म मुद्राओं का उल्लेख है। इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि उस समय सुवर्ण और द्रम्म मुद्राएँ प्रचलित थीं।

मेरुतुङ्ग ने प्रबन्ध चिन्तामणि में उज्जैन नरेश विक्रमादित्य से सम्बन्धित टङ्क मुद्राओं का उल्लेख किया है

तथा इसी प्रकार परमार नरेश भोजदेव से सम्बन्धित भी टङ्क मुद्राओं का वर्णन किया है।

द्रम्म मुद्रा का वज़न 65 ग्रेन मान्य है। भोगीलाल सौंदेसरा के अनुसार यह सर्वाधिक प्रामाणिक मुद्रा थी। यह सोने अथवा चाँदी से निर्मित होती थी। द्रम्म मुद्रा प्राय: पाँच रूपकों के बराबर होती थी। डी.आर. भण्डारकर के अनुसार एक विंशोपक ताँबे की मुद्रा का मूल्य द्रम्म का बीसवाँ भाग होता था।

ठक्कुर फेरू रचित द्रव्य-परीक्षा नामक अपभ्रंश-प्राकृत ग्रन्थ से कुछ मालवीय मुद्राओं के नाम ज्ञात होते हैं, परन्तु वर्तमान में प्रत्येक मुद्रा के सम्बन्ध में उसको प्रसारित करने वाले नरेशों के नामों को व्यवस्थित रूप से निर्धारित नहीं कर सकते हैं। ठक्कुर फेरू के अनुसार टङ्क मूलत: 8 रत्ती अथवा 14.64 ग्रेन के वज़न का होता था। टङ्क एक तोला चाँदी के बराबर माना गया है।

राजा भोज की शिवलिङ्ग प्रकार की 52, 48 व 42 मिलीग्राम वज़न की मुद्राएँ चाँदी की टङ्क मुद्राओं का अर्द्धभाग और लक्ष्मी प्रकार की मुद्राएँ 3.300 ग्राम वज़न द्रम्म मुद्राओं में परिगणित की जानी चाहिए।

राजा भोज के शासनकाल में मालवा की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी। चाँदी की शिवलिङ्ग प्रकार की ये मुद्राएँ छोटे आकार व लगभग 7 व 8 ग्रेन वज़न की हैं। ये मुद्राएँ जन-साधारण द्वारा प्रतिदिन क्रय-विक्रय के कार्य में व्यवहृत होती रही होंगी तथा अन्य उद्देश्य जन-साधारण में शैव-धर्म का प्रचार-प्रसार भी प्रतीत होता है। लक्ष्मी प्रकार की मुद्राएँ शासकीय कोष में कर जमा करनेऔर अधिकारियों-कर्मचारियों को वेतन रूप में प्रदान की जाती होगी।

सन्दर्भ

1 इपिग्राफिया इण्डिका, भाग 7, पृ. 235, श्लोक 19
2 तदैव, भाग 33, पृ. 215
3 डॉ. वि.श्री. वाकणकर शोध संस्थान, उज्जैन में संरक्षित।
4 उपर्युक्त क्रमाङ्क -1 निर्दिष्ट, भाग 1, पृ. 236-237
5 मृच्छकटिकम्-ज्जरी कथा पृ. 8 'चपलराजलक्ष्मीकरेणुकालानपृथुभुजस्तम्भ:।
6 उपर्युक्त क्रमाङ्क1, निर्दिष्ट भाग दख, पृ. 182
7 वही, भाग XVIII, पृ. 320
8 वही, भाग XIX, पृ. 71-72
9 मृच्छकटिकम्-ज्जरी कथा, पृ. 146, 147 एवं 149
10 प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. 8, 104, 121, 163 आदि।
11 जर्नल न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग 8, पृ. 144
12 कार्माइकल लेक्चर्स, पृ. 208
13 द्रव्य-परीक्षा-श्लोक 61

नरवर्मदेव का ताम्रपत्र

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

श्री अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर के अध्यक्ष एवं स्वामी डॉ. आर.सी. ठाकुर से दिनांक 24/01/2013 की संध्या महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ में इस ताम्रपत्र के दोनों पत्रों के फोटो प्राप्त हुए। उनके अनुसार ताम्रपत्र जावरा के पास गाँव में है। दोनों पत्रों का वज़न 7 किलो है। आकार लगभग 1 फीट चौड़ा व 1 फीट लम्बा है। अक्षर बड़े हैं। पहले पत्र के नीचे व दूसरे पत्र के ऊपर दो-दो गड्ढे कड़ियों से बाँधने के हैं। लेख के फोटो में अक्षर कहीं -कहीं धुँधला गये हैं। प्रथम पत्र में 16 तथा द्वितीय पत्र में 15 पंक्तियाँ हैं। द्वितीय पत्र के नीचे दाहिने कोण पर दोनों हाथ में दो सर्प लिये गरुड़ का रेखाङ्कन है। यह परमार राजवंश का राजचिह्न है। मालवा के परमारों के ताम्रपत्रों पर गरुड़ की ऐसी आकृति पायी जाती है। कभी-कभी गरुड़ के हाथ में एक ही सर्प रहता है। प्रथम ताम्रपत्र और द्वितीय ताम्रपत्र के लेख के मध्य एक और ताम्रपत्र रहा होगा, क्योंकि प्रथम के अन्त का पारम्परिक श्लोक और अन्य श्लोक नहीं है।

ताम्रपत्र में लिपि बारहवीं शताब्दी की नागरी है। इस पर तिथि विक्रम संवत् 1182 मार्ग शुदि 3 (28 अक्टोबर 1125 बुधवार) अङ्कित है। भाषा संस्कृत पद्य तथा गद्य है। इस ताम्रपत्र में बताया गया है कि धारा स्थित नरवर्मा ने उज्जयिनी विषय के दक्षिण के ग्रामों की भूमि दान की। इसमें ढक्कारियक एवं प्रहसिचेढ नामक ग्रामों का उल्लेख है। इस ताम्रपत्र के वाचन में डॉ. जे.एन. दुबे का सहयोग प्राप्त हुआ। फोटो अस्पष्ट होने से ताम्रपत्र का यह वाचन अभी पूर्ण संतोषप्रद नहीं होने से विद्वानों के विचारार्थ फोटो सहित प्रस्तुत है। इसमें संवत् 1182 मार्ग सुदि 3 (29 नवंबर 1125 शक 1047 रविवार) तिथि अंकित है।

मूल पाठ पत्र एक

1. ओं स्वस्ति श्री जयोभ्युदयश्च ॥ जयति व्योमकेशोसौ यः सर्गाय विभर्ति ताम् ऐंदवीं शिरसा लेखां जग
2. द बीजांकुराकृतिमा॥ तन्वन्तु वः स्मरारातेःकल्याणमनिशं
   जटाः कल्पान्तसमयोद्दामतडिद्वलयपिङ्ग–
3. लाः॥ परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीसिन्धुराजपादानुध्यातपरमभट्टारकमहारा
4. जाधिराजपरमेश्वरश्रीभोजदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजधिराजपरमेश्वरश्रीउदयादि
5. त्यदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीमन्नरवर्म्मदेवः कुशली॥
   श्रीमदुज्जय–

6. नीविषयेदक्षिणतोपेतपालकेयावर्धनिकत्वराख्यादीनांविक्रयमुहजघेयाधिक्य-
भोक्तानुवयमानप्रहलषद्वेतथान
7. ढ ब व नी य स्वेहलपश्चकनुस्वायधिकेस्यादिधितिवाहस्या नक्तहलेकपिशक्तविहाय
शेषकरणप्रति
8. क्रियमापेढक्कारियक्याम दिषामद्वि दिन्य पेह्यद्यादिकान परिचारकहलपृव्विंसतिस्तथा
ष्युचिव पालकव्वेल
9. म्लकीयतलकजस्वुधास्कन प्रहसिचेठवासकग्रामद्दक्षिणामापादि त्रिमणद्वेहल मय
त्रिसप्त क्षमापाल
10. केचालुक्यवहिक्सोमपालभुक्तमानतप्तस्य जिफवणलकविभ्रमकोवदत लोक.....
णहभुक्तपघट्युग्रामा
11. सकालनेमेषजोधयानं वक्तनसप्ताधिकनवद्याहसजित
श्रीमद्महाराजाश्रीकृष्णहभक्तयमेकद्वापकश्रीचन्द्रः
12. सी क्रिदाभां शासनेन भुक्तेनुकरण प्रभाकुन माणास सिक्त कदा ब्राह्मण नाम
श्री कमधविवक्तन -
13. त्रयोदशाधिकभूहल पञ्चविसतिस्तदिकं धिवासाच्चयसतलक ग्राम द्वासक माणक्तयेन प्रमाणोक्तभय हर्षोकुपुरणा ब्राह्मणो-
14. तरान्प्रतिनिवासीपट्ट कि लजनपदादिंश्च संविदितव्यस्तुम्विादित यथाविभाग धाम द्वयाप्तषण्णवति प -
15. र्थदजु प्रामाण्येनोभय द्विचत्वारिसन्माप्यकेन हल पञ्चाधिक
सतिक श्रीमदधारावस्थितैस्स्माभिस्नात्वा-चराचर गुरु
16. म्भगवन्तम्भवानीपतिं समभ्यच्चूर्य संसारस्यांसारतां दृष्ट्वा तथाहि । वाताभ्र विभ्रममिदं वसुधाधिपत्यमापातमात्र मधु

पत्र दो

1. मध्यदेशान्तणौत एव नी प्र विसमगतदत्तेनवष्यधच्यर्चना वानि प्रदेशमद्यौर्ति पश्च प्रवरवहधश भूतः
2. म्मयावदगङ्गाधरणावर्थात्रभागाविधमुतद्वितिहनृणरय शुभकरायस्मिन्नै सम्वत्सरे कार्त्तिक शुदि विभृतिविद्योण
3. विद्यापमिहणयवकल्पितः चोपरिलिखितसेमवालकग्रामार्द्ध
निर्गतोक्तंतरिष्ठकृहाणजनषड्भिसतयेयथाधन्व
4. हलद्य चातिकस्स छेक सम्वन्धि उपरि लिखित विभागाद्वय सतलक्ग्रामद्वयं च सीमातृणयूतिगोचरमय क्ए वृकृ मालायलस
5. हिण्यभागभोगसोपरिकरसर्व्वादायसमेता मातापित्रोरात्मनश्च पुण्ययशोभिवृद्धयेशासनेनोदकपूर्वकतया प्रदत्त तेन म
6. त्वा तन्निवासीपट्टकिलजनपदैर्यथादीयमानभागभोगकरहिरण्यादिकमाज्ञाश्रवणविधेयै-
र्भूत्वा सर्व्वममुष्मै समुपनेतव्यं सामा

7. न्यं चैतत् पुण्यफलं बुध्वा अस्मद्वंशजैरन्येरपि भाविभोक्तृभिरस्मप्रदत्त-
धर्म्मादायोयमनुमन्तव्य: पालनीयश्च। उक्तं च बहुभिर्व्व
8. सुधा भुक्ता राजभि: सगरादिभि: । यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं ॥ यानीह दत्तानी पुरा नरेन्द्रैद्दजानि धर्म्मार्थयश
9. स्कराणि। निर्माल्य वान्ति प्रतिमानि तानि को नाम साधु: पुनराददीत॥
अस्मत्कुलक्रममुदारमुदाहरदिभरन्यैश्च दानमिदमभ्य
10. नुमोदनीयं । लक्ष्म्यास्तडिद्वलयबुद्बुद्चञ्चलाया दानं फलं परयश: परिपालनं च सर्व्वानेतान् भाविन: पार्थिवेन्द्रान् भूयो भूयो याचते
11. रामभद्र: । सामान्योयं धर्म्मसेतुर्नृपाणां काले काले पालनीयो भवद्भि: । इति कमलदलाम्बुविन्दुलोलां श्रियमनुचिन्तय
12. मनुष्य जीवितं च। सकलमिदमुदाहृतं च बुद्ध्वा न हि पुरुषै (:) परकीर्तयो विलोप्या इति विक (स.)
13. 1182 मार्ग्ग शुदि 3 दू. ठक्कुर पुरोहित श्रीवामनस्वामिराज सुतश्रीकुणधालि॥ मङ्गलं महाश्री:॥
14. स्वहस्तोयं महाराजश्रीमन्नरवर्म्मदेवस्य॥
15. श्री:॥

वैश्या टेकरी वैदिशा-गिरि

श्रीनिवास रथ

उज्जयिनी वर्तमान उज्जैन ऐतिहसिक सन्दर्भ में भी विश्व के प्राचीनतम नगरों में से एक है। ईसवी पूर्व छठवीं शताब्दी में उज्जयिनी महासेन प्रद्योत की राजधानी थी। ईसवी पूर्व 298 में बिन्दुसार के राज्यारोहण के बाद अशोक को उज्जयिनी का 'कुमार प्रशासक' नियुक्त किया गया था। वर्तमान 'वेश्या टेकरी' मूलत: बौद्ध विहार था। भिक्षु व्रत ग्रहण करने के उपरान्त महेन्द्र ने इसी स्थान से धर्म प्रचार के लिये सिंहल (सीलोन) की ओर प्रस्थान किया था।

ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत पुरातत्त्व विभाग के निदेशक श्री गर्दे द्वारा नियोजित उत्खनन का कुछ विवरण श्री स.का. दीक्षित की पुस्तक 'उज्जयिनी इतिहास तथा पुरातत्त्व' (प्रभात प्रिंटरी, इन्दौर 1968) में प्राप्त होता है। वैश्या टेकरी के उत्खनन पर प्रकाश डालते हुए श्री दीक्षित ने लिखा है कि -

''पाटलिपुत्र से उज्जयिनी आते समय अशोक ने रास्ते में विदिशा के नगर श्रेष्ठी की लावण्यमयी कन्या 'देवी' से विवाह कर लिया।..... पालि ग्रन्थों में देवी को प्राय: 'सेट्ठिधीता' नाम से उल्लेखित किया है।.....

वैश्या टेकड़ी सेट्ठिधीता वैश्य की पुत्री होने के कारण उज्जैन में सम्भवत: इसे 'वैश्या' नाम से सम्बोधित किया जाता था। .....वैश्या द्वारा सम्भवत: एक बड़ा स्तूप एवं विहार बनाया गया। इसी स्तूप को अब ''वैश्या टेकड़ी'' कहा जाता है। यह उज्जयिनी की ईशान्य दिशा में तीन मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ 1938-39 में जो उत्खनन हुआ उसमें लेखक ने भी भाग लिया। .....वृत्ताकार पहाड़ी, व्यास 110 मीटर से अधिक तथा ऊँचाई 32 मीटर से अधिक है।.....4 मीटर की खुदाई के बाद एक गड्ढा निकला। अन्दर की भाँप से एक व्यक्ति बेहोश हो गया। ईंटे **22½" x 18½" x 3¾" / 22½ " x 15½" x 3¾"** सम्भवत: यह ईंटे मौर्यकालीन ही हैं।''

''सम्भवत: 'वैश्या टेकड़ी' (या देवी के स्तूप) की रचना अशोक के अन्य स्तूपों से भिन्न एक पुरातन पद्धति की थी।.....व्यास की तुलना में ऊँचाई प्रति शताब्दी बढ़ती जाती है। इस स्तूप में यह ऊँचाई बहुत ही कम पायी जाती है। इससे भी इसकी प्राचीनता तथा मौर्यकालीन अस्तित्व की बात प्रमाणित होती है।.....''

''.....रंगीन 'ग्लेज्ड' मृद्भाण्ड का खण्ड मिला एक ओर से सफेद ऊपर लाल रंग की शङ्ख की विचित्र आकृति .....रजत की आहत मुद्रा.....ढाली हुई एक अवंती मुद्रा हाथी वृक्ष अङ्कित।....हाथी

'गजतम' श्वेत केतु का तथा बोधि वृक्ष सम्बोधि का द्योतक है। सम्भवत: उक्त मुद्रा अशोक के समय की अथवा उसके थोड़े बाद की मानी जा सकती है। अत: 'वैश्या टेकड़ी' का स्तूप अशोक की रानी 'देवी' का बनाया हुआ हो सकता है।'' (पृ. 69-72)

डॉ. कैलासनाथ काटजू तत्कालीन मुख्यमंत्री, म.प्र. की अध्यक्षता में विक्रम विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति डॉ. माताप्रसाद द्वारा संयोजित तथा ईश्वरसिंह परिहार, सञ्चालक सूचना तथा प्रकाशन, मध्यप्रदेश द्वारा गवर्नमेण्ट रीजनल प्रेस, ग्वालियर से अप्रैल, 1957 में प्रकाशित 'उज्जयिनी दर्शन' में उज्जैन के ' प्रमुख दर्शनीय स्थान' के अन्तर्गत यद्यपि भैरवगढ़ के कारागार को मूलत: नरक के नाम से अशोक के द्वारा निर्मित होने का उल्लेख मिलता है, परन्तु 'वैश्या टेकरी' का नाम कहीं नहीं है।

इस ग्रन्थ में श्री भिक्षु धर्मरक्षित ने अपने आलेख 'उज्जैन की बौद्ध परम्पराएँ' में वैश्या टेकरी के साथ 'भर्तृहरि गुफा' तथा योगेश्वर टेकरी को भी बौद्ध विहार निरूपित किया है। एक अन्य आलेख 'पालिवाङ्मय में उज्जैन' में श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने किसी टेकरी का उल्लेख तो नहीं किया, परन्तु महेन्द्र कुमार का उज्जयिनी में जन्म, दो वर्ष बाद सङ्घमित्रा का जन्म तथा तथा दोनों के द्वारा सिंहल में बौद्ध धर्म के प्रचार की बात कही है। इस आलेख के अनुसार सिंहल के अनुराधापुर नगर में आज भी संसार के प्राचीनतम ऐतिहासिक वृक्ष के रूप में बोधि वृक्ष की वह शाखा लहलहा रही है, जिसे सङ्घमित्रा अपने साथ ले गयी थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के सद्य: पूर्व श्रीमन्त जीवाजीराव सिन्धिया के राज्यकाल में सम्पन्न उत्खनन के उपरान्त स्वतन्त्र भारत के केन्द्रीय सरकार के आदेश से उज्जैन में चल रही खुदाई का उल्लेख 'उज्जयिनी दर्शन' के आमुख में तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. कैलासनाथ काटजू ने किया है। यह उत्खनन 1956-57 में श्री एन्.आर. बैनर्जी द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस उत्खनन का क्षेत्र गढ़कालिका मन्दिर क्षेत्र से भर्तृहरि गुफा क्षेत्र के शिप्रा तट के बीच केन्द्रित हुआ था। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व की नगर संरचना की जानकारी के अलावा इसमें लौह अयस्क गलाने की भट्टियों और बाढ़ प्रतिरोधक तट बन्ध उजागर हुए थे।

पुरातात्त्विक अनुसन्धान की दृष्टि से पद्मश्री विष्णु श्रीधर वाकणकर जी ने कुछ स्वयंसेवी साथियों के साथ श्री बैनर्जी द्वारा नियोजित उत्खनन की परत-दर-परत प्रक्रिया को आत्मसात् किया था। वैश्या टेकरी को डॉ. वाकणकर स्तूप मानते थे। इस क्षेत्र से अनेक सिक्के प्राप्त हुए थे। श्री दीक्षित ने भी उसे 'टेकड़ी या देवी के स्तूप' ही कहा। लगभग दो हजार तीन सौ वर्षों से उज्जयिनी परिसर में वर्तमान इस महत्त्वपूर्ण केन्द्र का कोई उल्लेख संस्कृत साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में कहीं नहीं मिला है। बाणभट्ट की कादम्बरी में उज्जयिनी के इस स्तूप का नाम नहीं मिलता यद्यपि उसके सम-सामयिक हुएन्त्सांग ने उज्जैन में अनेक देवी-देवताओं के मन्दिर देखे थे, जो कई प्रकार के भिक्षु लोगों के काम आते थे। इस बिन्दु पर 'वैश्याटेकरी' के मौलिक अभिधान की जिज्ञासा नितान्त प्रासङ्गिक प्रतीत होती है।

पूर्व ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग द्वारा सन् 1944 में डॉ. विमलचरण लॉ. की एक पुस्तक 'उज्जयिनी इन एन्शियन्ट इण्डिया' प्रकाशित की गयी थी। इस पुस्तक के आमुख (प्रीफेस) में लेखक ने ग्वालियर राज्य के 'डाइरेक्टर ऑफ ऑर्कियोलोजी' श्री एम्.बी. गर्दे के आग्रह पर अवन्ती राज्य की राजधानी उज्जयिनी पर ग्रन्थ रचना के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है कि उनका यह ग्रन्थ पहली बार प्राचीन नगरी उज्जयिनी का एक सुसङ्गत विवरण प्रस्तुत कर रहा है जो संस्कृत, पालि तथा प्राकृत के मूल साहित्यिक स्रोतों पर आधारित है। इसी के तारतम्य में चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्त तथा प्रासङ्गिक मुद्रा एवं उत्कीर्ण आलेखगत

प्रमाणों के उपयोग की बात भी की है। इस 'मोनोग्राफ' को 'प्राचीन भारत में उज्जयिनी' श्री विमलचरण ला, के अन्तर्गत हिन्दी में प्रस्तुत करते हुए 'उज्जयिनी दर्शन' में (अनु. प्रो. निगम) सम्मिलित किया गया है। वर्तमान सन्दर्भ में इस आलेख के दो अंश हमारे लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

अशोक के राज्यकाल में उसकी पत्नी देवी ने जो कि विदिशा में ही रुक गयी थी, अपने पुत्र महेन्द्र के लिये एक आवास (बौद्ध विहार) वैदिशा गिरि पर बनवाया था जहाँ से वह सिंहल प्रस्थित हुआ। सम्भवत: यह सर्वप्रथम बौद्ध धार्मिक संस्थान था, जिसके अनन्तर साँची (भिलसा से साढे पाँच मील दक्षिण-पश्चिम) सोनारी (साँची से छह मील दक्षिण-पश्चिम) सतधारा (सोनारी से तीन मील) भोजपुर (भिलसा से छह मील दक्षिण-पूर्व) तथा अंधर (भिलसा से नौ मील पूर्व तथा दक्षिण पूर्व) में स्तूपों का निर्माण हुआ। साँची के स्तूप सम्भवत: अशोक ने स्वत: बनवाये थे। ''मैटर्स ऑन युआन च्वांग'' के आधार पर यह भी प्रमाणित किया है कि ह्वेनत्सांग जब भारत भ्रमण को आया था तब उसने उज्जयिनी के नज़दीक भी एक बौद्ध स्तूप देखा था।

दूसरी ओर 'आकर अवन्ती' प्रदेश की समृद्धि तथा वैभव विस्तार के अन्तर्गत विदिशा अञ्चल के प्रमुख नगर 'वेदिशा नगर' को 'समन्त पासादिका' के आधार पर 'वेस्सनगर' निरूपित करते हुए 'वैश्य नगर, आधुनिक बेस नगर' माना है। बौद्ध साहित्य में देवी को कहीं भी वैश्या नहीं कहा है।

उज्जैन की 'वैश्या टेकरी' के परिप्रेक्ष्य में 'समन्त-पासादिका' में निर्दिष्ट 'बेसनगर' को यदि 'वैश्यनगर' माना जाय तो 'वैदिशा गिरि' का वैश्या-टेकरी अभिधान भी युक्तिसङ्गत सिद्ध होता है, परन्तु महावंश और दीपवंश आदि प्रकीर्ण साहित्य में महेन्द्र की माता को 'सेट्ठिघीता' (श्रेष्ठी-दुहिता) ही कहा गया है। मृच्छकटिक में भी 'श्रेष्ठीचत्वर' की कुछ पहचान मिलती है। अतएव 'वैदिशा-गिरि का वइशा गिरि वैशा-टेकरी तथा पुनरुद्धार के पथ पर वैश्या-टेकरी नाम भी सङ्कल्पित प्रतीत होता है।

डॉ. विमलचरण लाहा ने अशोक के राज्यारोहण पर विदिशा में बस गई देवी के द्वारा सिंहल यात्रा के पूर्व अपने भिक्षु पुत्र महेन्द्र के लिये वैदिशा गिरि पर भिक्षु विहार के निर्माण को प्रथम बौद्ध विहार निरूपित किया है। वैश्या-टेकरी के उत्खनन में सम्मिलित श्री दीक्षित भी 'देवी के स्तूप' की रचना को ''अन्य स्तूपों से भिन्न एक पुरातन पद्धति की'' मानते हैं। परवर्ती स्तूपों में ऊँचाई बढ़ती जाती है।

अतएव स्तूप केन्द्रित बौद्ध विहारों के निर्माण का सूत्रपात उज्जयिनी के वैदिशा-गिरि से माना जा सकता है। 'उज्जयिनी दर्शन' में प्रकाशित डॉ. लाहा के मूल अंग्रेज़ी लेख के हिन्दी अनुवाद में ''वैदिशा गिरि'' का ''वैविशा-गिरि' उल्लेख स्पष्टत: मुद्रण दोष है। कुमार महेन्द्र के धर्मगुरु 'मौद्गल्यपुततिष्य' ने महेन्द्र को युवराज बनाने का विरोध किया और 266 ई.पूर्व के आस-पास भिक्षुव्रत की दीक्षा लेकर महेन्द्र वापस उज्जयिनी आ गये। वैदिशा गिरि भिक्षु विहार का निर्माण सम्भवत: इसी काल में हुआ था। महेन्द्र ने इसी स्थान से लगभग 260 ई.पू. में सिंहल की धर्मयात्रा प्रारम्भ की थी। 'महावंश' और 'दीपवंश' में सङ्कलित परम्परा के अनुसार सङ्घमित्रा को गृहस्थ जीवन में एक पुत्र की प्राप्ति हुई थी। उसने अपनी गृहस्थी त्याग कर दीक्षा ली थी। भिक्षुव्रत धारण कर वह अपनी माँ के पास आ गयी थी। सिंहल की राजकुमारी को अन्य पाँच सौ स्त्रियों के साथ दीक्षा देने के लिये वह बोधिवृक्ष की शाखा लेकर विदिशा से ही सिंहल-यात्रा पर गयी थी।

अस्तु। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विश्व के सांस्कृतिक इतिहास का वह महत्त्वपूर्ण पृष्ठ उज्जयिनी से जुड़ जाता है जो धर्म प्रचार के लिये यात्रा का शुभारम्भ है। वहीं बौद्ध स्तूपों के निर्माण कला की प्राथमिक प्रयोग भूमि भी उज्जयिनी ही सिद्ध होती है। वैदिशागिरि (या वैश्याटेकरी) के उपलब्ध अवशेष के कण-कण की रक्षा वर्तमान उज्जैन की प्राथमिकता होनी चाहिये।

श्री धन्वन्तरिर्विजयते

डॉ. गिरीशकुमार जोशी

नमामि धन्वन्तरिमादिदेवं, सुरासुरैः वंदितपादपद्मम्।
लोके जरारुक्भयमृत्युनाशम्, दातारमीशम् विविधौषधीनाम्॥
शङ्खं चक्रं जलौकादधऽमृतघटं, चारु दोर्भिश्चतुर्भिः
सूक्ष्मस्वच्छातिहृदयम्, शुकपरिविलसन् मौलिमंभोजनेत्रम्।
कालांभोदोज्वलाङ्गं कटितटविलसश्चारुपीताम्बराढ्यं
वन्दे धन्वन्तरिं तं निखिलगदमिव, प्रौढदावाग्निमीलम्॥

इन्द्रबलि के परस्पर युद्ध में अमृत घट के समुद्र में गिरने के पश्चात् पुनः अमृत प्राप्ति हेतु देवासुर मैत्री के बाद समुद्र मन्थन से उत्पन्न रत्नों में अमृतघट के साथ धन्वन्तरि के प्राकट्य की कथा पुराण प्रसिद्ध है। ये धन्वन्तरि विष्णु के अंशावतार रूप में मान्य हैं। वैदिककाल के विविध देवों के मध्य धन्वन्तरि का उल्लेख प्रायः अप्राप्य ही है। आयुष्य अथवा चिकित्सा के देव के रूप में वैदिक वाङ्मय में 'अश्विनीकुमार' की मान्यता प्राप्त होती है।

पुराणकालीन साहित्य में श्रीमद्भागवत महापुराण, ब्रह्मपुराण आदि साहित्य में धन्वन्तरि की देव रूप में मान्यता स्थापित होना प्रमाणित होता है। हरिवंशपुराण के अनुसार धन्वन्तरि का सम्बन्ध काशी से है। तदनुसार काशी के संस्थापक सम्राट् काश के पुत्र दीर्घतपा, दीर्घतपा के धन्व तथा धन्व के पुत्र रूप में धन्वन्तरि का उल्लेख है। इस परम्परा में धन्वन्तरि के पुत्र केतुमान्, केतुमान् के भीमरथ, भीमरथ के दिवोदास, दिवोदास के प्रतर्दन, प्रतर्दन के वत्स तथा वत्स के अलर्क आदि राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णु पुराण के अनुसार काशी के संस्थापक नरेश, काश के पुत्र काशेय, काशेय के राष्ट्र, राष्ट्र के पुत्र दीर्घतपा, दीर्घतपा के पुत्र रूप में धन्वन्तरि का आविर्भाव माना जाता है। यह परम्परा केतुमान्, भीमरथ तथा दिवोदास तक मान्य होती है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में धन्वन्तरि के बारे में उल्लेख है-

सर्ववेदेषु निष्णातो, मन्त्रतन्त्रविशारदः।
शिष्यो हि वैनतेयस्य, शङ्करस्योपशिष्यकः॥

इस प्रकार धन्वन्तरि गरुड़ के शिष्य एवं शङ्कर के उपशिष्य होने के साथ वेद वेदाङ्ग में निष्णात तथा तन्त्रमन्त्र के विशारद थे। भगवान् धन्वन्तरि के मन्त्र के माध्यम से उनके स्वरूप, सामर्थ्य, शक्ति तथा दैवी

महिमा का परिचय प्राप्त होता है -

ओम् नमो भगवते महासुदर्शनाय, वासुदेवाय, धन्वन्तरये,
अमृतकलशहस्ताय, सर्वभयविनाशाय, सर्वरोगनिवारणाय, त्रिलोकपथाय,
त्रिलोकनाथाय, श्रीमहाविष्णुस्वरूपायश्रीधन्वन्तरिस्वरूपश्री
श्री श्री औषधिचक्रनारायणाय नमः॥

अर्थात् श्री धन्वन्तरि महासुदर्शन स्वरूप परमेश्वर, वासुदेव अंशरूप है। वे अमृत कलश धारण करते हैं, सर्व प्रकार के जरामरणादिजनित भय के विनाशक, सर्वरोग निवारक, त्रिलोकपथ के आधार व स्वामी हैं तथा स्वयं श्री महाविष्णु रूप हैं, उन त्रिविधौषध श्री चक्र के नियन्ता नारायण को हम प्रणाम करते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र से भगवान् धन्वन्तरि के त्रिदेव रूप तथा परमेश्वर वासुदेव नारायण रूप से अभिन्न तत्त्व की प्रामाणिकता भी सिद्ध होती है। सम्पूर्ण भारत में धन्वन्तरि को विष्णु रूप में ही पहचाना और पूजा जाता है।

श्री महाकाल वन अवन्तिका क्षेत्र में महिदपुर नगर के निकटस्थ श्री धन्वन्तरि वैद्यनाथ महादेव का स्थान है। मन्दिर में श्री विग्रह रूप में अमृतघटधारी श्री शिव-पार्वती का स्वरूप विग्रह पूजित है। प्राप्त जानकारी के अनुसार सम्भवतः यह एक अद्वितीय मन्दिर है, क्योंकि जहाँ पुराण प्रसिद्ध भगवान् धन्वन्तरि चतुर्भुज विष्णु रूप मान्य है, वहीं परम्परा से हटकर भगवान् धन्वन्तरि के शिव-पार्वती स्वरूप को यह मन्दिर समर्पित है। अतः इस स्थान के उद्भव, स्वरूप, अस्तित्व एवं प्रामाणिक मान्यता के सन्दर्भ में शोध की परम आवश्यकता प्रतीत होती है।

आयुर्वेद, औषध और रोगों के अधिष्ठाता रूप में भगवान् शिव का सम्बन्ध वैदिक परम्परा से लेकर आयुर्वेद तक विविध ग्रन्थों में यत्रतत्र परिलक्षित है, जबकि धन्वन्तरि का ध्येय और उपास्य रूप चतुर्भुज विष्णु रूप ही पूजित होता है। रसरत्न समुच्चय ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के रूप में कैलाश पर्वत के वर्णन के साथ-साथ शिव-पार्वती के द्वारा पारद उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है। रस सिद्धि प्रदाता आचार्यों की एक सुदीर्घ परम्परा में शिव, शिवगण के साथ अनेक शिव भक्त आचार्यों का इस ग्रन्थ में सादर उल्लेख प्राप्त होता है जो आयुर्वेद से भगवान् शिव के अभिन्न सम्बन्ध को प्रकाशित और प्रमाणित करता है। भगवान् शिव भी आयुर्वेद नामक विद्या से अनादिकाल से जुड़े हैं। ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में -

यस्याऽऽनन्दभवेन्मङ्गलकलासम्भावितेनस्फुरद्धाम्ना -
सिद्धरसामृतेन करुणावीक्षासुधासिंधुना।

इस उल्लेख के साथ भी मङ्गलाचरण में भगवान् महेश्वर के स्मरण से भी कहीं-न-कहीं शिव रूप धन्वन्तरि विग्रह की स्वीकारोक्ति प्रतिध्वनित होती है। रस चिकित्सा स्वयं में देवी चिकित्सा है तथा रस (पारद) के उत्पत्ति का आधार स्वयं भगवान् उमा महेश्वर है, अतः भगवान् धन्वन्तरि के रूप में इस शैव उपासना प्रधान क्षेत्र में आराधकों के लिये यह स्वरूप सहज ही स्वीकृत रहा होगा।

शकारि विक्रमादित्य के नवरत्नों में भी धन्वन्तरि की गणना प्रथम है –

धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेस्सभायां, रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥

अवन्तिका नरेश विक्रमादित्य के नवरत्न में प्रधान रत्न धन्वन्तरि के कार्यक्षेत्र के रूप में भी इस स्थान

की जनश्रुति प्रचलित होने के आधार पर भी धन्वन्तरि महादेव के रूप में उनके आराध्य की उपासना का स्थल इसे माना जाना समीचीन प्रतीत होता है।

सुदीर्घकाल से विविध लोक-जनश्रुति के आधार पर इस स्थान की दिव्यता एवं आरोग्य प्राप्ति की कई कथाएँ आस-पास मालव तथा सौंधवाड़ क्षेत्र में प्रचारित होती रही हैं। भगवान् धन्वन्तरि के शिव-पार्वती विग्रह की अर्चना, मनोकामना पूर्णत: उपासना के अनेकानेक जन प्रमाण भी मालवाञ्चल में मिलते हैं। तथापि पुरातात्त्विक प्रमाणों की गवेषणा एवं शोधानुसन्धान के लिये यह क्षेत्र अद्यतन प्रतीक्षारत है।

की जनश्रुति प्रचलित होने के आधार पर भी धन्वन्तरि महादेव के रूप में उनके आराध्य की उपासना का स्थल इसे माना जाना समीचीन प्रतीत होता है।

सुदीर्घकाल से विविध लोक-जनश्रुति के आधार पर इस स्थान की दिव्यता एवं आरोग्य प्राप्ति की कई कथाएँ आस-पास मालव तथा सौंधवाड़ क्षेत्र में प्रचारित होती रही हैं। भगवान् धन्वन्तरि के शिव-पार्वती विग्रह की अर्चना, मनोकामना पूर्णतः उपासना के अनेकानेक जन प्रमाण भी मालवाञ्चल में मिलते हैं। तथापि पुरातात्त्विक प्रमाणों की गवेषणा एवं शोधानुसन्धान के लिये यह क्षेत्र अद्यतन प्रतीक्षारत है।

वैद्यनाथ महादेव मन्दिर-धन्वन्तरि की कार्यशाला

डॉ. किरण रमण

महर्षि चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट के अनुसार आयुर्वेद के मूल प्रवर्त्तक साक्षात् भगवान् हैं । भगवान् द्वारा इन्द्र से भारद्वाज को और भारद्वाज से अन्य ऋषियों को आयुर्वेद की प्राप्ति हुई। इस प्रकार आयुर्वेद अपने-आप में सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण ईश्वरीय विज्ञान है। आयुर्वेद के प्रवर्त्तक धन्वन्तरि चौबीस अवतारों में से एक अवतार हैं। उनके द्वारा प्रदत्त आयुर्वेद में किसी प्रकार की कमी नहीं है। इसीलिये कल्प-कल्पान्तर, युग-युगान्तर के बाद भी आयुर्वेदिक औषधियाँ पूर्ण सावधानी से और विधि-विधान के अनुसार नहीं बनने पर भी लाभ ही करती है। यदि उन्हें आयुर्वेदशास्त्र में निर्दिष्ट विधि के अनुसार उपयुक्त भूमि एवं उपयुक्त मुहूर्त में पूर्ण सम्मान के साथ पैदा किया जाय, मन्त्रादि के प्रयोग से उनकी रक्षा की जाय, फिर शास्त्रीय विधि से सम्मानपूर्वक पूजन करके निमन्त्रण देकर लाया जाय और शास्त्रीय विधि से उनका निर्माण किया जाय, निदानपूर्वक रोग का निश्चय करके रोगी की अवस्था, शक्ति, क्षमता आदि का विचार करके प्रयोग किया जाय, तो वे कभी भी हानि नहीं करेंगी तथा सर्वथा लाभदायक ही होंगी।

इस विषय पर विचार करके महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ के निदेशक डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित जी के निर्देशन में धनतेरस के दिन धन्वन्तरि जयन्ती मनाना निश्चय किया गया और वह भी उस स्थल पर जहाँ पर धन्वन्तरि याने कि सम्राट् विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक रत्न धन्वन्तरि की कार्यशाला वैद्यनाथ महादेव मन्दिर, जो वर्तमान में बैजनाथ महादेव के नाम से जाना जाता है। इस स्थल पर विगत वर्ष और इस वर्ष भी धनतेरस के दिन धन्वन्तरि जयन्ती मनाई गई। विगत वर्ष चार लोगों द्वारा आयुर्वेद के आरोग्य अङ्क का पूजन आदि कर जयन्ती मनायी गयी। इस वर्ष अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर के अध्यक्ष डॉ. आर.सी. ठाकुर और उनका शोध संस्थान परिवार, महिदपुर के पत्रकार बन्धुओं सहित लगभग पचास प्रबुद्ध जन उपस्थित हुए। यह सार्थकता रही कि यहाँ पर इस दिन धन्वन्तरि पर शोधपत्रों का वाचन भी हुआ। यह परम्परा इस स्थल पर अब अनवरत चलती रहेगी। यहाँ यह बात इसलिए उल्लेख करना आवश्यक था कि अब महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ के द्वारा सम्राट् विक्रमादित्य के पुरातात्त्विक अवशेष खोज लिए गए हैं। ऐसे में अब उनके नवरत्नों को भी प्रमाण सहित स्थान मिलना चाहिए। इस दृष्टि से धन्वन्तरि की कार्यशाला पर खोज कार्य किया गया। यह स्थल महिदपुर से 5 कि.मी. दूर झारड़ा मार्ग पर धन्वन्तरि नामक शिव मन्दिर है। यह मन्दिर महिदपुर तहसील में शेष बचे दो प्रमुख परमारकालीन मन्दिरों में से एक है। मन्दिर उत्तर परमारकालीन है, त्रिरथ शैली में बना है। प्रथम भाग दालान है जिसमें नन्दी की एक सुन्दर, किन्तु छोटी

प्रतिमा है, उसके पश्चात् अन्तराल है। अन्तराल में दोनों ओर की दीवारों में ताक है। दाहिने हाथ के ताक में गणेश प्रतिमा है। बाँए हाथ के ताक में उमा-महेश्वर प्रतिमा रखी हुई है। मन्दिर का गर्भगृह छोटा है। गर्भगृह में अब शिवलिङ्ग नहीं है, बल्कि ग्रामवासियों द्वारा शिव-पार्वती की प्रतिमा स्थापित है। धन्वन्तरि नाम से प्रसिद्ध यह मन्दिर पूर्वाभिमुख है। मन्दिर के प्रवेश द्वार मण्डप तथा बाह्य आकार से वह भूमिज स्थापत्य शैली का प्रदर्शन करता है। शिखर छोटा आमलक युक्त है। शिखर के नीचे लघु शिखर है जो कि 6× 6 की पंक्ति में द्रष्टव्य है।

मन्दिर के बाँयी ओर सामने कुछ प्राचीन मूर्तियाँ एकत्रित हैं, जिसमें उमा-महेश्वर पार्वती, शिवलिङ्ग, नन्दी, जलाधारी, स्थानक शिव और एक प्रतिमा यहाँ पर कटे सिर वाली जिसने अपने बाँये हाथ में सिर को पकड़े हुए है। इसे वाकणकर शोध संस्थान के निदेशक डॉ. जगन्नाथ दुबे ने रावण की प्रतिमा माना है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यह स्थल सम्राट् विक्रमादित्य से लेकर परमारकाल तक अस्तित्व में रहा है। इसलिए इसे वर्तमान में भी बैजनाथ ग्राम के नाम से जाना जाता है। यहाँ पर अनेक किंवदंतियाँ प्रचारित हैं। जङ्गली पशु-पक्षियों का यहाँ आवागमन रहा है, अनेक पत्थर आज भी इस प्रकार से टूटे पड़े हैं कि कोई शिल्पी आकर उन्हें तराशेगा।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह भूमि स्वयमेव औषधियाँ उत्पन्न करती है और आज भी औषधियों का भण्डार देखा जा सकता है। जो औषधीय वृक्ष विलुप्त हो गए हैं, उन्हें भी यहाँ पर आसानी से खोजा जा सकता है। इस मन्दिर परिसर में ही एक बड़ा खाल पास की पहाड़ी से ही निकलता है जो कुछ दूरी पर शिप्रा नदी में समाहित हो जाता है। वर्तमान में इसके बड़े पाट को देखते हुए डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित जी, डॉ. आर.सी. ठाकुर सा. ने इसे धन्वन्तरि नदी का नाम दिया है।

डॉ. सुस्मिता पांडे

पुस्तक शीर्षक	:	विक्रमादित्य और पुरातत्त्व
लेखक	:	डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित
		डॉ. आर.सी. ठाकुर, डॉ. जे.एन. दुबे
प्रकाशक	:	महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, उज्जैन
सम्पादक	:	श्रीराम तिवारी
मूल्य	:	रु. 150/-

''विक्रमादित्य और पुरातत्त्व'' लघु पुस्तिका में इतिहास लेखन की दो विधाएँ दृष्टिगत होती हैं। एक ओर तो वैज्ञानिक इतिहास लेखन, जिस प्रकार से महान् इतिहासकार रांके ने प्रतिपादित किया था तो दूसरी ओर कॉलिंगवुड द्वारा प्रतिपादित इतिहास लेखन, जिसके अनुसार इतिहास केवल तथ्यों या साक्ष्यों का ढेर मात्र नहीं हैं, परन्तु वह विचारों का इतिहास है। इतिहासकार साक्ष्यों के आधार पर किसी युग के विषय में चिन्तन करता है और वे घटनाएँ उसके मस्तिष्क में पुनर्घटित होकर असली इतिहास बनती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखकों ने दुर्लभ पुरातात्त्विक साक्ष्य एकत्रित किये हैं जैसे विक्रम संवत् वाले शिलालेख, सील, सिक्के आदि और दूसरी ओर इनके विषय में विचार मन्थन करके सटीक वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक तर्कों द्वारा विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सिद्ध की है।

अश्विनी शोध संस्थान के एक सिक्के पर 'क्री' (कृत) तथा उसके दाहिनी ओर 'विक्' (विक्रम) अङ्कित है। इससे स्पष्ट होता है कि विक्रम और कृत अभिन्न था। कुछ सिक्के ऐसे भी मिले हैं जिन पर 'श्रीविक्रम', राजा विक्रम तथा एक सिक्के पर 'उजनीय विकमस' अङ्कित है। इसी प्रकार राजा विक्रम की मोहरें (सील अथवा सीलीङ्ग) पर भी ध्यान आकर्षित करवाया गया है, जिनमें श्री विकमस, राजा विक्रम आदि लिखा है।

प्रस्तुत पुस्तक में विक्रमादित्य के एक सभासद मूलदेव की सील भी वर्णित है। इसे प्राचीन साहित्य में वर्णित मूलदेव की पुरातत्त्व से पुष्टि होती है तथा एक अत्यन्त उत्कृष्ट, सांस्कृतिक युग का रोमाञ्चक अनुभव होता है। पुस्तक में अम्वलेश्वर शिलालेख की विषयवस्तु का भी वर्णन किया गया है, जो निश्चय

ही विक्रमादित्य के इतिहास पर प्रकाश डालता है।

विक्रमादित्य और पुरातत्त्व पुस्तक में एक अत्यन्त रोचक साक्ष्य पर प्रकाश डाला गया है। यह है आन्ध्र के आलमूरु (राजमहेन्द्र के निकट) में विक्रमार्क और उसके मित्र भट्टी की स्मृति में विक्रमार्केश्वर और भट्टीश्वर नाम के मन्दिर। लेखकों के अनुसार यहीं विक्रमार्क और सातवाहन का युद्ध हुआ और उज्जैन से आलमूरु तक विक्रमादित्य का राज्य था।

इस तथ्य के ज्ञान से सातवाहन और विक्रमादित्य के सम्बन्धों पर ऐसा प्रकाश पड़ता है, जो अभी तक इतिहासकारों के समक्ष नहीं आया था।

प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे के अनुसार सभी इतिहास समसामयिक इतिहास हैं। प्रस्तुत पुस्तक इस कथन को भी सिद्ध करती है। समसामयिक जीवन में बढ़ती हुई पुरातत्त्व में रुचि को विक्रमादित्य के पुरातात्त्विक प्रमाणों से सम्बद्ध किया गया है। न ही केवल विक्रमादित्य, परन्तु उनके समकालीन साहित्य में वर्णित अन्य पात्रों को भी पुरातत्त्व के माध्यम से जीवन्त कर एक मूल्य संस्पृक्त युग की पुनर्रचना हमारे समक्ष सफलतापूर्वक की गई है।

यह पुस्तक न ही केवल इतिहासवेत्ताओं एवं शोधकर्त्ताओं के लिए महत्त्वपूर्ण है, परन्तु आम नागरिक के लिए भी महत्त्वपूर्ण है, जो विक्रमादित्य को परम्परा के माध्यम से जानता है और जिसकी रुचि सदैव इस परम्परा को ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से जानने की रहती है। पुस्तक की भाषा प्राञ्जल है और चित्रों का उत्तम छायाङ्कन उनको सजीव बनाता है।

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, उज्जैन के प्रकाशन

क्र.	पुस्तक का नाम
1.	पुराणों में विक्रमादित्य
2.	चाणक्य माणिक्य
3.	विक्रमादित्य कथाएँ
4.	वेतालपञ्चविंशतिका
5.	पुरातत्त्व में विक्रमादित्य
6.	विक्रमार्क (शोध पत्रिका)
7.	विक्रमादित्य और पुरातत्त्व
8.	राजा भोज और भारतीय विद्या
9.	आदि विक्रमादित्य
10.	राजा भोज का नगर स्थापत्य

राजा भोज की रजत मुद्रा

स्वर्ण मुद्रा पर विक्रमादित्य

राजा भोजदेव की रजत मुद्रा

राजा भोज की रजत मुद्रा

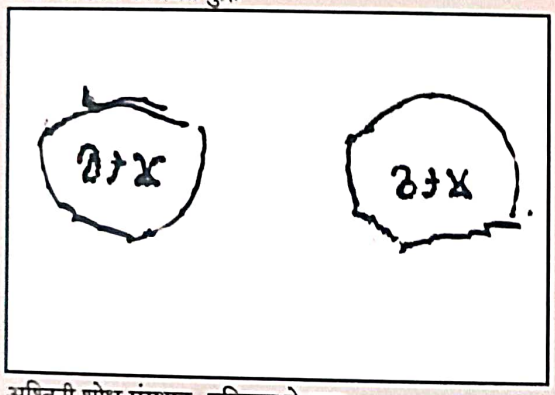

अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर से प्राप्त
विक्रम नामांकित मुद्राओं के साँचे

उज्जैन से प्राप्त चन्द्रगुप्त का सिक्का

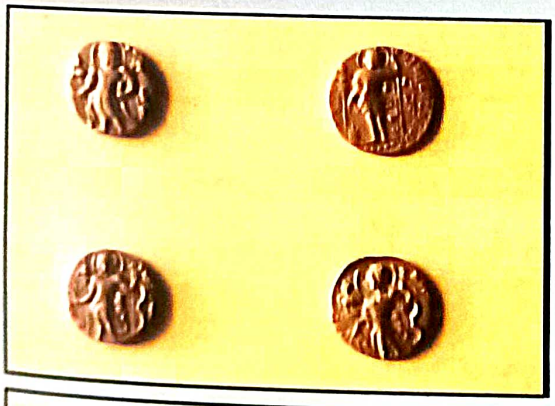

रुनीजा के गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्के
(1) समुद्रगुप्त (2) चन्द्रगुप्त (3) चन्द्रगुप्त (4) समुद्रगुप्त

रुनीजा के गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्के
(1)चन्द्रगुप्त (2) समुद्रगुप्त (3) समुद्रगुप्त (4)चन्द्रगुप्त (5) चन्दगुप्त

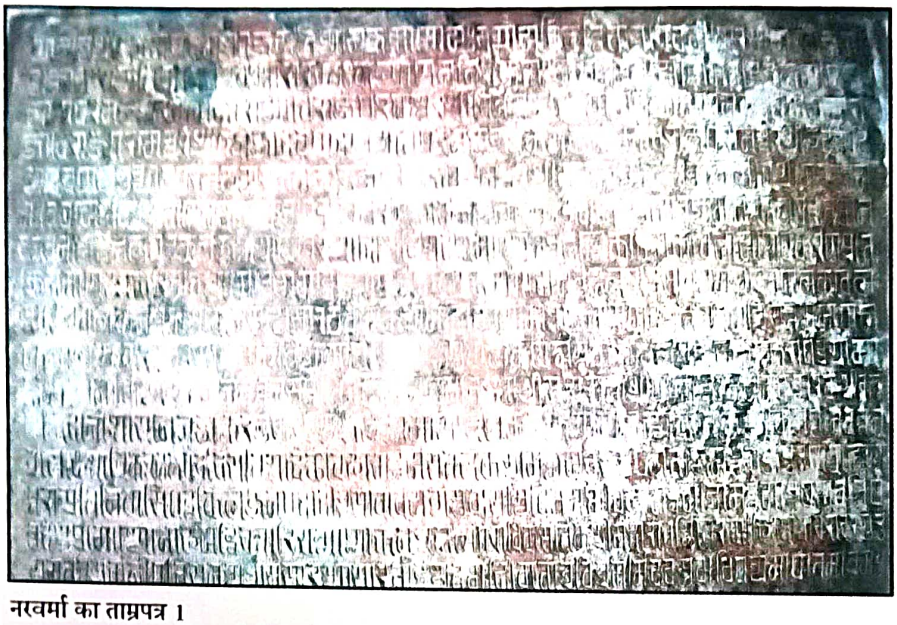

नरवर्मा का ताम्रपत्र 1

विक्रमस

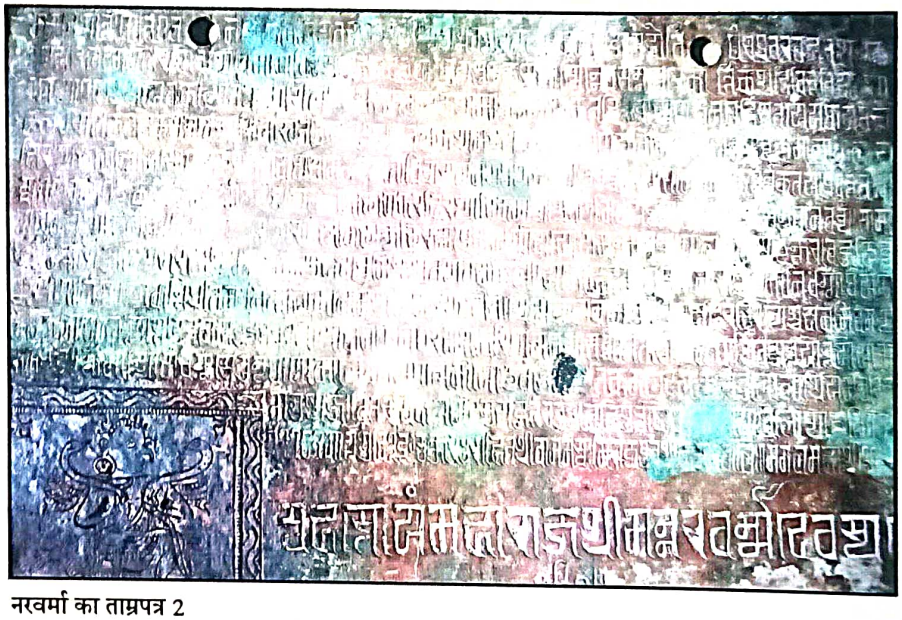

नरवर्मा का ताम्रपत्र 2

शिव प्रकार राजा विक्रम

शिव प्रकार राजा विक्रम

विक्रम (उज्जयिनी चिन्ह)

स्वामी / प्रकाशक : डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, निदेशक महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, 1 उदयन मार्ग, उज्जैन (म.प्र.) से प्रकाशित तथा मुद्रक विनय तिवारी, प्रबंधक द्वारा पंचायतीराज मुद्रणालय, 1 औद्योगिक क्षेत्र, नागझिरी, देवास रोड, उज्जैन (म.प्र.) से मुद्रित। सम्पादक : डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित।